सर्वोदय पुस्तकमाला, पुष्प-९

जैन इतिहास के प्रेरक व्यक्तित्व

भाग १

लेखक
पं. कुन्दनलाल जैन

प्रकाशक
जैनविद्या संस्थान
दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्रीमहावीरजी
राजस्थान

श्रद्धेय स्व. श्री जुगलकिशोर मुख्त्यार

एवं

स्व. बाबू छोटेलालजी, कलकत्ता

जिनमें पिता-पुत्र का वात्सल्य तथा

भगवान और भक्त जैसी अपार श्रद्धा और

भक्ति थी। इन दोनों इतिहास-मनीषियों,

मूर्तिकला-मर्मज्ञों, नर-पुङ्गवों को सादर

श्रद्धासहित समर्पित।

पुस्तक का विक्रय-मूल्य कम करने के लिए प्रदत्त आर्थिक सहयोग के लिए हम इनके आभारी हैं -

१.	रामचन्द्र प्रेमचन्द्र खिन्दूका चैरिटेबिल ट्रस्ट, जयपुर	३,०००/-
२.	श्रीमती सरला ठोलिया धर्मपत्नी श्री सुरेशकुमार ठोलिया, जयपुर	२,०००/-
३.	श्रीमती सुशीलादेवी, धर्मपत्नी श्री शांतिलाल बाकलीवाल, लखिमपुर, आसाम	१,५००/-
४.	श्रीमती अर्चना पाटनी प्रियदर्शी, जोधपुर	१,००१/-
५.	श्रीमती कनकलता पाटनी, जोधपुर	१,०००/-
६.	श्रीमती मैना दोसी, जोधपुर	१,०००/-
७.	श्रीमती रेखा बाकलीवाल धर्मपत्नी श्री सुधीर बाकलीवाल, जयपुर	१,०००/-
८.	श्रीमती कमला सोगाणी धर्मपत्नी डॉ. कमलचन्द सोगाणी, जयपुर	१,०००/-

आरम्भिक

हमें 'जैन इतिहास के प्रेरक व्यक्तित्व - भाग १' पाठकों के हाथों में समर्पित करते हुए हर्ष का अनुभव हो रहा है।

दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्रीमहावीरजी द्वारा संस्थापित एवं संचालित 'जैनविद्या संस्थान' जैनधर्म-दर्शन एवं संस्कृति की बहुआयामी दृष्टि को सामान्यजन एवं विद्वानों के समक्ष प्रस्तुत करने के लिए सतत प्रयत्नशील है। श्री कुन्दनलालजी जैन द्वारा लिखित यह पुस्तक जैन संस्कृति के संरक्षक एवं प्रेरक प्रतिष्ठित महिलाओं, श्रेष्ठीजनों तथा साहित्यकारों का प्रामाणिक जीवन प्रस्तुत करती है। इस पुस्तक से ज्ञात हो सकेगा कि जैन संस्कृति की सुरक्षा, उसका प्रचार-प्रसार जीवन में असाधारण त्याग से ही संभव हो पाया है। गौरवमय अतीत ही वर्तमान को गौरवमय बनाने की प्रेरणा प्रदान करता है। श्री कुन्दनलालजी जैन ने दसवीं सदी से अठारहवीं सदी तक के कतिपय प्रेरणादायी व्यक्तित्वों का परिचय देकर एक महत्वपूर्ण कार्य किया है।

इस पुस्तक के विक्रय-मूल्य को कम करने के लिए जिन दान-दातारों से आर्थिक सहयोग प्राप्त हुआ है उनके प्रति हम हृदय से अपनी कृतज्ञता व्यक्त करते हैं।

प्रबन्धकारिणी कमेटी की भावना के अनुरूप जैनविद्या संस्थान समिति के संयोजक डॉ. कमलचन्द सोगाणी सत्साहित्य कम कीमत पर उपलब्ध कराने के लिए जो प्रयास कर रहे हैं वह श्लाघनीय है।

इस पुस्तक के लेखक श्री कुन्दनलालजी जैन के प्रति हम पुनः आभार प्रकट करते हैं। पुस्तक के प्रकाशन के लिए जैनविद्या संस्थान के कार्यकर्त्ता एवं जयपुर प्रिन्टर्स प्राइवेट लिमिटेड, जयपुर धन्यवादार्ह हैं।

कपूरचन्द पाटनी
मंत्री

नरेशकुमार सेठी
अध्यक्ष

प्रबन्धकारिणी कमेटी
दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्रीमहावीरजी

प्रकाशकीय

तीर्थंकरों ने हमें मार्गदर्शन दिया है कि सामान्यतया व्यकित्व का विकास उदात्त सामाजिक वातावरण में ही सरल एवं सहजरूप में संभव होता है। अहिंसक और त्यागरूप सामाजिक चेतना से ही व्यक्ति में अहिंसा और त्याग की प्रतिष्ठा सुगम होती है। तीर्थंकर व्यक्तित्व-विकास की उच्चतम अवस्था को पहुँचकर भी सामाजिक परम्पराओं के शुद्धिकरण को सर्वाधिक महत्व देते हैं। चाहे ऋषभदेव हों, चाहे नेमिनाथ और चाहे महावीर - इन सभी ने समाज को जो दिशा-बोध दिया वह ही व्यक्ति के लिए अनुकरणीय बन गया। एक समूह को मूल्यात्मक जीवन जीने की प्रेरणा देना कठिन कार्य होता है। व्यक्ति को जैविक आवश्यकताओं के परे सच्चे जीवन का दर्शन कराना और भी कठिन है। यह सत्य है कि सांस्कृतिक मूल्यों के प्रति समर्पित व्यक्ति एक विशिष्ट आभा लिये हुए होते हैं। शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति करते हुए आत्मिक-सांस्कृतिक मूल्यों को जीवन में साकार करना ही उनका धर्म होता है। ऐसे व्यक्ति इन्द्रियों की दासता को त्यागकर अतीन्द्रिय सांस्कृतिक मूल्यों के प्रति सजग होते हैं और सांस्कृतिक भक्ति-भावना से प्रेरित होकर कला और साहित्य का सृजन करते हैं।

मुझे लिखते हुए हर्ष है कि श्री कुन्दनलाल जैन ने 'जैन इतिहास के प्रेरक व्यक्तित्व' नामक पुस्तक की रचना कर हमें कतिपय आभावान व्यक्तियों का परिचय प्राप्त करने का अवसर प्रदान किया है। तीर्थंकरों का स्मरण करानेवाले विनयवान पाहिल्ल श्रेष्ठी जिनालय की सुरक्षा करनेवालों के प्रति अपने को 'दासानुदास' मानने में भी संकोच नहीं करते। शिल्पी चागद वम्भदेव की कला एवं कलाकृति नि:स्वार्थता एवं निर्लोभता का सहारा पाकर अमर हो गई। गुल्लिकाज्जि की भक्तिभावना के सम्मुख सारा वैभव निरर्थक होता देखा जा सकता है। साम्राज्ञी शान्तलादेवी की धार्मिक श्रद्धा एवं दृढ़ता उनकी यशोगाथा गाने के लिए पर्याप्त प्रतीत होती है। साहू नेमीचन्द व नट्टलसाहू ने साहित्यकार श्रेष्ठ कवि विबुध श्रीधर का आश्रयदाता बनकर साहित्य-सृजन को गरिमा प्रदान की है। शान्तिनाथ जिनालयों के निर्माता पाड़ासाह ने अपार धन-सम्पत्ति संस्कृति की रक्षार्थ उपयोग करके एक आदर्श प्रस्तुत किया है। इन सार्थवाहों द्वारा लम्बी व्यापारिक यात्राओं में भी अपनी धार्मिक-सांस्कृतिक परम्पराओं व मूल्यों को अक्षुण्ण बनाये रखना प्रेरणास्पद है। साहू श्री जीवराज पापड़ीवाल ने लक्षाधिक जिनबिम्बों की प्रतिष्ठा कराके व यात्रा-संघों का आयोजन करके जैनधर्म की ध्वजा को सदैव फहराये

जाने के संकल्प को साकार किया है। श्री टोडर साहू द्वारा निर्मित स्तूप-परिसर उनकी सांस्कृतिक चेतना का दिग्दर्शन कराती है। कवि राजमल्ल एवं कवि देवीदास भायजी के द्वारा किया गया साहित्य-सृजन उदात्त जीवन-मूल्यों को चिरस्थायी करने का प्रयास है।

आशा की जाती है कि इस पुस्तक का जन-जन में प्रचार होगा। दान-दातारों ने इस पुस्तक का विक्रय मूल्य कम करने के लिए जो आर्थिक सहयोग दिया है उससे यह पुस्तक सामान्य-जन की पहुँच में सदैव बनी रहेगी। उन सबके प्रति आभार व्यक्त करना मैं अपना कर्त्तव्य समझता हूँ।

पुस्तक के प्रकाशन में सहयोगी कार्यकर्त्ता एवं जयपुर प्रिन्टर्स प्रा. लि., जयपुर धन्यवादार्ह हैं।

ऋषभ जयन्ती
चैत्र कृष्णा ९, वी.नि.सं. २५२१
२५ मार्च, १९९५

डॉ. कमलचन्द सोगाणी
संयोजक
जैनविद्या संस्थान समिति

आत्मकथ्य

इतिहास की रचना मनुष्य करता है - यह एक चिरन्तन तथ्य है पर यह भी एक विशिष्ट तथ्य है कि मानव सभ्यता का निर्माण और विकास इतिहास की प्रेरणा पाकर ही प्रबल हुआ है। भारतवर्ष का इतिहास विश्व की विभिन्न संस्कृतियों के रचन-पचन और उनके पारस्परिक तानों-बानों के क्रमशः विकसित मेल-मिलाप से सुदृढ़ हुआ है जिसमें श्रमण संस्कृति का भी अपना अति महत्वपूर्ण योगदान रहा है।

भारतीय सभ्यता, संस्कृति, इतिहास, पुरातत्व, दर्शन आदि को बारीकी से समझने के लिए जैनधर्म के दार्शनिक तत्वों एवं इतिहास व पुरातत्व का गंभीर अध्ययन करना नितान्त आवश्यक है। जैनधर्म भारतवर्ष का प्राचीनतम धर्म है, इसका अतीत अति गरिमामय रहा है, इसने भारतीय इतिहास और पुरातत्व के विकास और परिवर्द्धन में अति महत्वपूर्ण योगदान किया है।

यद्यपि जैन इतिहास और पुरातत्व पर बहुत कुछ प्रकाश डाला जा चुका है फिर भी बहुत सारी सामग्री अभी भी अंधकार के गर्त में छिपी एवं बिखरी पड़ी हुई है। यह हर्ष का विषय है कि दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्रीमहावीरजी द्वारा संचालित जैनविद्या संस्थान इस दिशा में प्रगतिशील कदम बढ़ा रहा है। प्रस्तुत लघु पुस्तिका इसी दिशा का प्रकाशन है।

सन् १९६० में मैंने दिल्ली के जैन शास्त्र भण्डारों की प्राचीन हस्तलिखित पाण्डुलिपियों का सर्वेक्षण कार्य प्रारम्भ किया और लगातार दस वर्ष तक यह कार्य करता रहा।

उपर्युक्त श्रमसाध्य और समयसाध्य कार्य-प्रणाली के अन्तर्गत जो कुछ भी महत्वपूर्ण ऐतिहासिक सामग्री मुझे उपलब्ध होती रही उसे व्यवस्थित कर नियमितरूप से विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित कराता रहा, इनमें से बहुत से लेख आकाशवाणी, दिल्ली से प्रसारित भी हुए। प्रस्तुत पुस्तक उन्हीं पूर्व प्रकाशित निबन्धों में से ग्यारह निबन्धों का संकलन है।

ये निबन्ध दशवीं सदी से लेकर अठारहवीं सदी के जैन इतिहास के प्रेरक कुछ प्रतिष्ठित महिलाओं, श्रेष्ठीजनों तथा कवियों का प्रामाणिक जीवन-वृत्त प्रस्तुत करते हैं। इनकी शोध-खोज का क्या रहस्य रहा है? इनको लिखे जाने की पूर्व पीठिका क्या थी? यदि इसका संक्षिप्त-सा परिचय करा दूं तो कोई अनुचित न होगा।

जब चन्देलकालीन जैन कला और पुरातत्व के अध्ययन हेतु खजुराहो गया तो वहाँ देखा – जिनमन्दिर के निर्माता पाहिल्ल श्रेष्ठी के (९५४ ई.) नाम के साथ 'दासानुदास' विशेषण अंकित है। इसी विनम्रता–सूचक शब्द ने सम्पूर्ण लेख की शोध–खोज की प्रेरणा दी। इतना बड़ा उदार–दानी सेठ जीवन के पश्चात् भी उन सबका सेवक बना रहेगा जो उसके द्वारा निर्मित मन्दिर की सुरक्षा करते रहेंगे। कितनी उदार, उत्कृष्ट और पुनीत भावना है! यह हर व्यक्ति में नहीं हो सकती । कोई विशिष्ट पुरुष ही ऐसी उदार भावना को व्यक्त करवाता है इसलिए पाहिल्ल श्रेष्ठी मेरे वंदनीय बन सके।

त्यागद ब्रह्मदेव ने (१०२८ ई.) अपने त्याग के बल पर ही विश्व के आठवें आश्चर्य का शिल्पांकन किया अत: वह चामुण्डराय, उनकी माताजी तथा प्रतिष्ठाचार्य नेमिचन्द्र से कम वंदनीय नहीं है। दक्षिण–यात्रा के समय श्रवणबेलगोल (विन्ध्यगिरि) स्थित भगवान बाहुबली की विराट प्रतिमा के दर्शन के पश्चात् उसके शिल्पी 'ब्रह्मदेव' की अश्वारूढ़ प्रतिमा ने अन्तस्तल को आन्दोलित किया और वही प्रेरणा–क्षण इस लेख के प्रसवन एवं शोध–खोज का निमित्त बन सका।

'गुल्लिकायज्जि' लेख सन् १९८१ के बाहुबली के महामस्तकाभिषेक के समय लिखा गया था। आकाशवाणी दिल्ली से आमंत्रण था कि इस अवसर के लिए कोई वार्ता तैयार कीजिए, शोध–खोज शुरू हुई और यह दादी अम्मा पकड़ में आ गई। गुल्लिकाज्जि (९८१ ई.) के अटूट भक्तिभाव ने चामुण्डराय की योजना, चागद का त्याग, श्री नेमिचन्द्राचार्य की बिम्बप्रतिष्ठा तथा महामस्तकाभिषेक की छवि सभी को सार्थक कर दिया था। उस उपेक्षित वृद्धा का लुटियाभर दूध, जो अटूट भक्तिभाव से लबालब था, न होता तो क्या आज हम यह ठाट–बाट देखने में समर्थ होते? गुल्लिकाज्जि के भक्तिभाव ने उस छोटे से मेंढ़क की याद दिला दी जिसका उल्लेख स्वामी समन्तभद्र ने 'भेक:प्रमोदमत्त: कुसुमेकैन राजगृहे' कहकर किया है। वह मेंढ़क विपुलाचल पर स्थित समवसरण में तीर्थंकर महावीर के दर्शनों के लिए कमल की पंखुड़ी लेकर चला, पर भीड़ में राजा श्रेणिक के हाथी के पैर के नीचे दबकर मर गया और इन्द्र हुआ। भक्ति की इसी महान गरिमा से प्रेरित हो 'गुल्लिकाज्जि' का अवतरण हुआ।

भारतीय ज्ञानपीठ द्वारा प्रकाशित 'शान्तलादेवी' जैसे विशाल उपन्यास के दो भागों को पढ़कर होय्यसलवंश की जैन साम्राज्ञी के वैशिष्ट्य का पता चला और उसके शताधिक विरुदों (उपाधियों) ने उसके प्रति श्रद्धा–सुमन समर्पित करने के लिए ही 'साम्राज्ञी शान्तलादेवी' (११२२ ई.) का प्रसवन हुआ।

कवि विबुध श्रीधर के 'पासणाहचरिउ' के पारायण के समय नट्टल साहू (११३२ ई.) के दर्शन हुए जो दिल्ली के तोमरों की टकसाल के अधीक्षक थे और कवि के भक्त अल्हण श्रेष्ठी के परमसखा भी। कवि श्रीधर द्वारा अल्हण को कही बेबाक बातों

ने तथा तोमरकालीन दिल्ली के प्रमाणिक इतिहास के निर्माता ने ही नट्टल साहू की शोध-खोज कराई।

सन १९४३-४४ में मैं मोराजी विद्यालय, सागर का विद्यार्थी था। स्व. भगत हरिशचन्द्र की प्रेरणा से नगर से बाहर निर्जन एकान्त में स्थित चिर उपेक्षित काकागंज स्थित एक सातिशय ऐतिहासिक जिनालय में संध्या समय दीपदान के लिए प्रतिदिन नियमितरूप से जाया करता था। वहाँ स्वामी समन्तभद्र के 'वृहत्स्वयंभू स्तोत्र' का पाठ केवल इसलिए किया करता था कि किसी तरह उन जैसी ज्ञान-गरिमा के कुछ कण मुझे भी प्रसादरूप में प्राप्त हो जावें। कभी-कभी चमगादड़ों के फड़फड़ाने से डर जाता था पर दृढ़ आस्था और विश्वास के कारण यह प्रक्रिया निर्बाधरूप से चालू रही। मन में अभिलाषा होती कोई व्यंतरादिक देव या यक्ष-यक्षिणी मां सरस्वती के दर्शन करादे या ज्ञान की ज्योति जगमगा दे, पर ये सब-कुछ बिल्कुल नहीं हुआ, हाँ एक आस्था अवश्य मिली। जब 'वृहत्स्वयंभू' की सोलहवीं स्तुति 'स्वदोषशान्त्या विहितात्मशान्ति' पर आता तो मन और मस्तिष्क में एक विचित्र-सा स्फुरण होता और विशिष्ट आनन्दानुभूति-सी होती। फलस्वरूप तीर्थंकर शान्तिनाथ के प्रति विशिष्ट भक्ति-भाव वटबीज की भांति मन के किसी कोने में छिपकर बैठ गया। समय आता-जाता रहा, काल की परिणति का कुछ पता नहीं। कालान्तर में जब जैन साहित्य की शोध-खोज के क्षेत्र में उतरा तो पढ़ने में आया कि बुन्देलखण्ड का गौरव पाडासाह (११८८ ई.) तीर्थंकर शान्तिनाथ और उनके जिनालयों के प्रति अत्यधिक भक्तिभाव से समर्पित था। बस यहीं आकर मन के किसी कोने में छिपा बैठा वह 'स्वदोष शान्त्यावाला' वटबीज अंकुरित और पल्लवित हुआ तथा पाडासाह के शोध-खोजरूपी वटवृक्ष के रूप में परिणत हो सका।

आचार्य श्री विद्यासागरजी के दर्शनों के लिए मुक्तागिरि गया था, वहाँ दिगम्बर जैन साहित्य संस्कृति संरक्षण समिति का आयोजन भी था। आचार्यश्री ने जीवराज पापड़ीवाल (१४४२ ई.) की खोज के लिए प्रेरणा दी। बस, गुरु महाराज के आशीर्वचन ही जीवराज पापड़ीवाल, जो सहस्राधिक जिनबिम्बों के प्रतिष्ठापक थे, के रूप में प्रतिफलित हुए।

मैं मथुरा (चौरासी) में अध्यापक रहा हूँ। मथुरा जैन संस्कृति का प्राचीनतम केन्द्र रहा है। माथुरसंघ, माथुरगच्छ, माथुरान्वय आदि सभी यहीं की देन हैं। कंकाली टीले के उत्खनन से प्राप्त प्रचुर जैन पुरातत्व सामग्री मथुरा के प्राचीन इतिहास को द्योतित करती है कि यहाँ देवनिर्मित स्तूप विद्यमान थे, मथुरा स्तूपों की नगरी थी। इन्हीं स्तूपों के इतिहास की खोज में टोडर साहू और कवि राजमल्ल (१५७३ ई.) के दर्शन हो सके।

बुन्देलखण्ड मेरी जन्म-भूमि है, शिक्षा-दीक्षा भी यहीं पर हुई। भले ही आजीविका हेतु यत्र-तत्र भटकता रहा पर बुन्देलखण्ड से आज भी जुड़ा हूँ। फलत: यहाँ के सूरमा आल्हा-ऊदल, कला-साधिका पातुर प्रवीणराय, हिन्दीकाव्य के प्रेत केशव कवि, फागों (चौकड़ियों) के निर्माता लोककवि ईसुरी आदि के प्रति रागानुभूति सहज स्वाभाविक ही है, इसी शृंखला में अध्यात्म रस के रसिया भायजी देवीदास (१७४७ ई.) जैसे निष्ठावान कवि के प्रति आस्था और विश्वास जाग उठे और वे श्रद्धासुमन-समर्पण के पात्र बन जावे तो अतिरेक ही क्या होगा! अस्तु।

अंत में, मैं डॉ. कमलचन्दजी सोगाणी का अत्यधिक आभारी हूँ जिन्होंने उपर्युक्त सामग्री का प्रकाशन 'जैन इतिहास के प्रेरक व्यक्तित्व, भाग-१' के रूप में करने का निर्णय लिया। उन मनीषी विद्वानों तथा उनकी रचनाओं के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ जिनसे सीखकर प्राचीन इतिहास की इस दिशा में कार्य कर सका। पाठकों के सुझाव मेरे लिए उपयोगी होंगे। ज्ञान का सागर अथाह और अगाध है।

'को न विमुह्यतिशास्त्रसमुद्रे'

कुन्दनलाल जैन
रिटायर्ड प्रिन्सिपल

श्रुति कुटीर
६८, विश्वासनगर
युधिष्ठिर गली
शाहदरा
दिल्ली-११००३२

अनुक्रमणिका

१.	श्री पाहिल्लश्रेष्ठी	१
२.	शिल्पी चागद वम्भदेव	४
३.	गुल्लिकाज्जि	८
४.	साम्राज्ञी शान्तलादेवी	९
५.	साहू श्री नेमिचन्द्र	१२
६.	श्री नट्टल साहू	१६
७.	श्री पाड़ासाह	१९
८.	साहू श्री जीवराज पापड़ीवाल	२४
९.	श्री टोडर साहू	२६
१०.	कवि श्री राजमल्ल	२९
११.	कवि श्री देवीदास भायजी	३२

श्री पाहिल्ल श्रेष्ठी

कुछ वर्ष पूर्व खजुराहो में एक संगोष्ठी में सम्मिलित होने का अवसर प्राप्त हुआ। वहां जिननाथ (आदिनाथ) मन्दिर में उसके निर्माता उदार-हृदय पाहिल्ल श्रेष्ठी (९५४ ई.) का महती विनम्रता से भरा शिलालेख पढ़ने को मिला तो हृदय भर आया। इस लेख में श्रेष्ठी महोदय ने स्वयं को 'दासानुदास' विशेषण से संबोधित किया है।

पाहिल्ल श्रेष्ठी संबंधी प्रस्तुत शिलालेख जिननाथ मन्दिर के प्रवेशद्वार की बाईं चौखट में गहरी छेनी से उकेरा गया है जो आज ग्यारह सौ वर्ष बाद भी स्पष्ट पढ़ने में आता है।

उस शिलालेख से स्पष्ट ज्ञात होता है कि भव्य पाहिल्ल श्रेष्ठी ने खर्जुरवाहक (खजुराहो) में तत्कालीन द्वितीय चन्देल नरेश धंगराज, जो महाराज यशोवर्मन प्रथम के बाद चंदेला राज्य के उत्तराधिकारी बने, के समय में इस जिननाथ मन्दिर का निर्माण कराया था तथा इसकी सुरक्षा, पूजा-पाठ, आरती आदि पुनीत कार्यों के लिए सात वाटिकाएं-बगीचे दान में दिए थे जिससे जिननाथ मन्दिर के सुसंचालन में किसी तरह की बाधा न आवे, साथ ही विनम्र निवेदन किया कि मेरे तथा मेरे वंश के नष्ट हो जाने के बाद जो भी भव्य पुरुष इस मन्दिर की देखभाल तथा साज-संभार कर इसकी सुरक्षा करता रहेगा उसका यह पाहिल्ल श्रेष्ठी युगों-युगों तक दासों का दास बना रहेगा। कितनी उदार और विनम्र भावना है पाहिल्ल श्रेष्ठी की कि स्वनिर्मित जिन मन्दिर की सुरक्षा करनेवालों के प्रति वे इतनी अधिक कृतज्ञता और विनम्रता प्रकट करते हैं। इसी शिलालेख के साथ ३४ के जोड़वाला यंत्र भी उत्कीर्ण है। यह नौ घरोंवाला है जो संभवतः नवकार मंत्र का प्रतीक हो, इसमें अंकित अंकों को किसी भी तरफ से जोड़ो, सबका जोड़ ३४ ही आयेगा। संभव है यह ३४ की संख्या अरहंत के ३४ अतिशयों की द्योतक हो।

धन-कुबेर पाहिल्ल श्रेष्ठी गृहपति वंश (गहोई) में उत्पन्न हुए थे। बुन्देलखण्ड के धन कुबेर पाड़ासाह भी गृहपति वंशान्वयी थे। पाहिल्ल श्रेष्ठी के पिता का नाम देदू था और पुत्र का नाम साहू साल्हे था। साहू साल्हे के पुत्र महागण, महीचन्द्र, श्रीचन्द्र, जितचन्द्र और उदयचन्द्र आदि थे। श्रेष्ठी पाहिल्ल के पुत्र साहू साल्हे ने माघ सुदी ५ सं. १२१५ (ई. सन् ११५८) को खजुराहो में भगवान संभवनाथ की प्रतिमा प्रतिष्ठित कराई थी। इस प्रतिमा के मूर्तिकार का नाम रामदेव था। यह प्रतिमा श्यामवर्ण पाषाण

की विशाल मनोज्ञ मूर्ति है। इस मूर्ति का वजन लगभग चार-पाँच क्विंटल से अधिक होगा।

इस मूर्ति-लेख में वर्णित पाहिल्ल श्रेष्ठी तथा जिननाथ मन्दिर के निर्माणकर्ता पाहिल्ल श्रेष्ठी में लगभग दो सौ वर्षों का अन्तर दिखाई देता है। इससे यह अनुमान किया जाता है कि इस मूर्ति की प्रतिष्ठापना के समय पाहिल्ल श्रेष्ठी दिवगंत हो गये होंगे, उनके पुत्र साहू साल्हे तथा पौत्रों ने अपने पिता व दादा की पुण्य स्मृति को चिरकाल तक जीवित रखने के लिए उनका नाम इस मूर्ति के पाद-पीठ में अंकित करा दिया होगा। इस समय चन्देल वंश उन्नति और समृद्धि के चरम शिखर पर था, इनमें से कई राजा तो जैनधर्म के प्रति बड़े उदार और अनुरागी थे। उनके शासनकाल में जैनधर्म को खूब फलने-फूलने का अवसर मिला।

यहाँ हम उन चन्देल राजाओं का संक्षिप्त-सा विवरण दे देना अनुचित नहीं समझते जिनके राज्य में जैनधर्म को प्रश्रय और संरक्षण मिला जिससे जैनधर्म के साथ-साथ जैन शिल्प, जैन साहित्य और जैन कला पल्लवित एवं पुष्पित हुई और उन्नति एवं अभिवृद्धि के चरम शिखर पर पहुँची। बुन्देलखण्ड में चन्देल वंश की नींव सर्वप्रथम नन्नुक चन्देला (नवमी सदी) ने स्थापित की जिसने कल्याणकटकपुर (कालिंजर) में किले का निर्माण कराया था। यह नन्नुक चंदेला गोल्लदेश का निवासी था। जब गोल्लदेशाधिप पड़ौसी राज्य से पराजित हो गोल्लाचार्य बन गये तो नन्नुक गोल्लदेश से भागकर कालिंजर का प्रथम चन्देल राजा बना। इसने गोल्लदेश निवासी गोलाकारों, गोलापूर्वों एवं गोल्लश्रृंगों को आश्रय दिया और अपने राज्य में बसाया? ये लोग जैन धर्मानुयायी थे। इनके लिए गोल्लपुर विशेष रूप से बसाया गया जो महोबा के पास था। लखनऊ म्यूजियम के मूर्ति-लेखों में यह तथ्य उपलब्ध है।

इसी चन्देलवंश में यशोवर्मन प्रथम नामक प्रतापी राजा हुआ। यह बड़ा न्यायप्रिय राजा था। इसने अपने महल के मुख्य द्वार पर न्याय घंटिका लगवा रखी थी जिसे कोई भी दुखियारा बजाकर न्याय की मांग कर सकता था - "कल्याणकटके पुरे यशोवर्मनृपति स्तेन धवलगृहद्वारे न्यायघण्टा बद्धा।" लगता है इस घटना से प्रभावित हो आगे चलकर बादशाह जहांगीर ने भी इस प्रथा को कायम रखा। इसी यशोवर्मन प्रथम के पुत्र धंगराज ने चन्देल राज्य की सीमाओं को बढ़ाकर अपनी कीर्ति विस्तृत और चिरस्थायी बनाई थी। इसी के राज्य में हमारे इस लेख के नायक पाहिल्ल श्रेष्ठी ने खजुराहो में जिननाथ मन्दिर बनवाया था तथा इसी राजा के नाम पर विकसित और निर्मित धंग वाटिका अन्य छः वाटिकाओं के साथ स्वनिर्मित जिननाथ मन्दिर के लिए दान में दी थी।

धंगराज के बाद उसका पुत्र गंडराज और फिर उसका पुत्र विद्याधर चन्देल वंश का उत्तराधिकारी हुआ। विद्याधर का उल्लेख दूब कुण्ड (ग्वालियर) के विशाल

शिलालेख में है जो एक जैन मन्दिर के निर्माण के समय महाराज विक्रमसिंह के राज्यकाल में लिखा गया था। विद्याधर के बाद इस राज्य का उत्तराधिकारी विजयपाल हुआ और उसके बाद कीर्तिवर्मा जिसने सं. ११५४ के लगभग लुअच्छ गिरि नाम से प्रसिद्धि-प्राप्त देवगढ़ का नाम कीर्तिनगर रखा था और यहाँ जैन शिल्प का विकास कराकर इसे जैन शिल्प का प्रसिद्ध केन्द्र बना दिया था।

कीर्ति वर्मा की एक पीढ़ी के बाद चन्देल वंश का उत्तराधिकारी मदनवर्मन हुआ जो बड़ा प्रतापी और उत्कृष्ट शासक था। इसके राज्य काल में जैनधर्म की बड़ी प्रगति हुई। पपोरा में स्थित मूर्ति-लेखों से इसकी जैनधर्म प्रियता का आभास मिलता है। खजुराहो-स्थित मूर्तियों में भी इस राजा का उल्लेख है जो श्रेष्ठी पणिधर ने निर्मित कराई थीं।

कोक्कल के शिलालेख में भी इन (मदनवर्मदेवस्य प्रवर्द्धमान विजयराज्य) का उल्लेख मिलता है। महोबा से प्राप्त मूर्तियों में भी महाराज मदनवर्मदेव का नामोल्लेख मिलता है। मदनवर्मदेव के बाद उसका पुत्र यशोवर्म द्वितीय हुआ जो अपने पिता के सामने ही दिवंगत हो गया था। अतः मदनवर्मदेव के पश्चात् चन्देल वंश का उत्तराधिकारी परमर्दिदेव हुआ। मदनवर्मदेव के समय में ही अहार, जिसे मदनेस सागरपुर कहा जाता था, में तीर्थंकर शान्तिनाथ की प्रसिद्ध ऐतिहासिक प्रतिमा पाड़ासाह के वंशजों ने प्रतिष्ठित कराई थी। मदनवर्मदेव ने अपना राज्य मालवा तक फैला दिया था। इसलिए परमर्दिदेव 'दशार्णाधिपति' की उपाधि से सुशोभित हैं।

महोवा से प्राप्त सं. १२२४ की जैनमूर्ति में परमर्दिदेव को 'प्रवर्द्धमान कल्याण विजय राज्ये' से सम्बोधित किया गया है। अहार से प्राप्त एक जैनमूर्ति सं. १२३७ में भी राजा परमर्दिदेव का उल्लेख है। परमर्दिदेव के बाद चंदेलवंश का उत्तराधिकारी त्रैलोक्यवर्मन हुआ जिसने छत्तीस वर्ष राज्य किया था। पर जैनधर्म संबंधी किसी कार्य का उल्लेख इतिहास में नहीं मिलता है। त्रैलोक्यवर्मन के बाद चंदेल वंश का अन्तिम राजा वीरवर्मदेव हुआ जिसका उल्लेख अजयगढ़ (पन्ना) से प्राप्त तीर्थंकर शान्तिनाथ के मन्दिर में है, जिसकी नींव आचार्य कुमुद्रचन्द्र ने सं. १३३१ में रखी थी। अजयगढ़ में श्रेष्ठी सोढ़ल द्वारा प्रतिष्ठित सं. १३३५ में तीर्थंकर शान्तिनाथ की प्रतिमा के पादपीठ में भी महाराज वीरवर्मदेव का नामोल्लेख है। इस तरह चंदेल वंश के लगभग चार सौ वर्षों के शासन में दस राजा हुए जिनके प्रश्रय और संरक्षण से जैनधर्म को बुन्देलखण्ड में खूब फलने-फूलने का अवसर प्राप्त था।

अन्त में चन्देलों के धन-कुबेर पाहिल्ल श्रेष्ठी का पुण्य स्मरण करते हुए उनकी उदार एवं विनम्र सद्वृत्ति का गुणानुवाद करते हैं और शत-शत नमन करते हैं जिसे हजार वर्ष बाद भी नहीं भूल सके हैं, भावी-पीढ़ी भी उनका आदर करती रहेगी।

शिल्पी चागद बम्भदेव

भगवान बाहुबलि तीर्थंकर नहीं थे, वे तो चौबीस कामदेवों में से प्रथम कामदेव थे अत: सर्व सुन्दर थे इसीलिए कन्नड़ भाषा में इनको गोम्मटस्वामी कहा है क्योंकि कन्नड़ में गोमट्ट का अर्थ सर्वाधिक सुन्दर होता है, अस्तु। परन्तु श्रद्धालु भक्तजनों ने उनके त्याग, तपस्या एवं साधना को देखकर उन्हें भगवान-सदृश ही मान लिया और वे भगवान बाहुबलि नाम से विख्यात हो गए।

भगवान बाहुबलि का अपौरुषेय एवं महामानवीय बलिष्ठ व्यक्तित्व विभिन्न कवियों, कलाकारों एवं सरस्वती-पुत्रों को मूर्तरूप प्रदान करने के लिए बरबस प्रेरित करता रहा। तीर्थंकर भगवान आदिनाथ के समय से ही वे चर्चा और विवेचना के केन्द्र बने रहे। संस्कृत के आचार्य जिनसेन, अपभ्रंश के श्रेष्ठ कवि पुष्पदन्त प्रभृति, उत्तर भारत तथा दक्षिण भारत के विभिन्न भाषाओं के श्रेष्ठ कवियों ने अपनी-अपनी कृतियों में उनका चरित्र-चित्रण बड़े ही कलापूर्ण एवं अनूठे ढंग से किया है।

भगवान बाहुबलि का चरित्र श्रद्धालुओं को युगों-युगों से आकर्षित करता आ रहा है। सभी लोग पठन-पाठन, अर्चा, स्तुति, पूजा, ग्रन्थ-रचना मूर्ति-निर्माण आदि के रूप में उनके प्रति श्रद्धा-सुमन समर्पित करते आ रहे हैं, जो आज तक अमर और विख्यात हैं पर श्रवणबेलगोल में स्थित भगवान बाहुबलि की प्रतिमा जो १३ मार्च, ९८१ में तत्कालीन गंगनरेश राचमल्ल के महामात्य एवं प्रधान सेनापति श्री चामुण्डराय ने निर्मित कराई थी वह आज भारतीय इतिहास और पुरातत्व की ही नहीं अपितु संपूर्ण विश्व की विख्यात श्रेष्ठतम कलाकृति है।

भगवान बाहुबलि की इस श्रेष्ठतम कलाकृति के प्रमुख शिल्पी (तक्षक) त्यागद ब्रह्मदेव थे जिन्हें कन्नड़ में चागद शब्द से संबोधित किया जाता है। उन्होंने बाहुबलि को साक्षात् भगवान का रूप प्रदानकर भारतीय पुरातत्व को ही नहीं अपितु संसार के समस्त पुरातत्ववेत्ताओं को ऐसा सर्व सुन्दर कला-वैभव प्रदान किया है। जब तक यह मूर्ति विद्यमान रहेगी तब तक उस श्रेष्ठ कलासाधक महान शिल्पी चागद को कोई भी नहीं भूल सकेगा और उसकी यशोगाथा गाते हुए उसकी कला की सराहना करते रहेंगे।

भगवान बाहुबलि की मूर्ति का निर्माण करानेवाले चामुण्डराय राज-पुरुष, विख्यात विद्वान् और प्राकृत कवि थे। उन्हें तो सभी लोग जानते हैं, आज इतिहास में

चागद (कन्नड़) = त्यागद

वे पूर्णतया विख्यात हैं। पर उस तपस्वी साधक, श्रेष्ठ शिल्पी, उच्च कलाकार चागद को बहुत कम लोग जानते हैं जिसकी अमर साधना और मूक तपस्या ने विराट्-स्वरूप को उत्कीर्णकर इतिहास और पुरातत्व को एक अनूठी, अमर पुण्य विभूति प्रदान की। इससे चामुण्डराय का यश भी चिरस्थायी हो गया है।

शिल्पी चागद कोई पढ़ा-लिखा प्रसिद्ध पुरुष नहीं था। उसके हाथ में कला थी, उसके छैनी-हथोड़े को आशीष और वरदान प्राप्त था। उसके हृदय में उसकी माँ ने भगवद्भक्ति उत्पन्न की थी और दिया था त्याग एवं तपस्या का उपदेश जिसके बल पर वह अक्षुण्ण अनुपम स्वरूप उत्कीर्ण कर सका और इतिहास-पुरुष बन गया।

भगवान बाहुबलि की मूर्ति के निर्माण के बाद चागद को जो यश और सम्मान मिला उसकी गौरव-गाथा दक्षिण के जैन मंदिर आज तक गाते हैं। उसके उत्तराधिकारी शिल्पियों ने उसे सम्मान देने के लिए जिनालयों का निर्माण करते समय अनेक जिनालयों में घोड़े पर बैठे हुए चागद शिल्पी की मूर्ति भी उत्कीर्ण की। उनके बाएं हाथ में चाबुक है जो इस बात का प्रतीक है कि धर्म-विरोधियों को उचित दण्ड-विधान किया जावे तथा दाएं हाथ में श्रीफल जो इस बात का प्रतीक है कि प्रभु-कृपा सदा बनी रहे एवं पावों में खड़ाऊ उत्कीर्ण है जो जिनालय की पवित्रता की प्रतीक है।

बाहुबलि की श्रवणबेलगोल-स्थित इस विराट् कलाकृति के निर्माण के लिए इसी चागद शिल्पी को चामुण्डराय ने आमंत्रित किया और अपनी माता की इच्छा उसके समक्ष प्रकट की। चागद उस विशालकाय विंध्यगिरि के प्रस्तरखण्ड को देखकर विस्मय विमुग्ध हो गया जिस पर उसे अपनी छैनी-हथोड़े की कला प्रदर्शित करनी थी। उसे अपनी शिल्पकला पर अभिमान था, पर इतने विशाल कार्य के लिए वह क्या कर सकेगा! उसकी लोभ-कषाय ने उसके अन्तःस्तल को झकझोर दिया। उसने प्रधान अमात्य से अपने पारिश्रमिक के रूप में उतनी ही स्वर्ण-राशि की याचना की जितना प्रस्तरखण्ड वह विन्ध्यगिरि से छीलेगा।

भगवान बाहुबलि के भक्त चामुण्डराय ने शिल्पी चागद की यह शर्त सहर्ष स्वीकार ली और मूर्ति का निर्माण प्रारम्भ करवा दिया। संध्या-काल में तराजू के एक पलड़े पर शिल्पी चागद के विकृत शिलाखण्ड थे और दूसरे पलड़े पर भगवद्भक्त एवं मातृ-सेवक चामुण्डराय की दमकती हुई स्वर्ण-राशि। चामुण्डराय ने शिल्पी को बड़ी श्रद्धापूर्वक वह स्वर्ण-राशि समर्पित की, वे कलाकार के मर्म को समझते थे। तक्षक चागद आज अपनी कला का मूल्य इतनी विशाल स्वर्ण-राशि के रूप में पाकर हर्ष से फूला नहीं समा रहा था, खुशी के मारे उसे घर पहुँचने में हुए विलम्ब का आभास ही न हुआ। घर पहुँचकर कलाकार जैसे ही अपनी कला के मूल्य को सहेजकर धरने

लगा कि वह राशि उसके हाथ से छूट नहीं रही थी और न उसके हस्त उस स्वर्ण से अलग हो रहे थे, दोनों एक-दूसरे से चिपके हुए थे।

भगवान बाहुबलि की प्रतिमा का प्रधान शिल्पी असमंजस में था कि यह सब क्या हो रहा है ? वह मन ही मन व्याकुल हो उठा, उसका हृदय इस हर्ष और उल्लास की वेला में खेद-खिन्न और दु:खी हो गया, तभी शिल्पी की माँ पधारी और कलाकार पुत्र की दुर्दशा देख बड़ी व्यथित हुई। लोभी शिल्पी ने अश्रु बिखेरते हुए अपनी राम-कहानी मां को सुना दी, मां ने अपने कलाकार पुत्र को धीरज बंधाया और समझाया - हे वत्स ! क्या कला स्वर्ण के तुच्छ टुकड़ों में बिका करती है ? तुम में यह दुष्प्रवृत्ति कहाँ से जन्मी ? कला तो आराधना और अर्चना की वस्तु है, तुमने तो इसे बेचकर कलंकित कर दिया है। उस चामुण्डराय को तो देख जो मातृसेवा और प्रभु-भक्ति के वशीभूत हो तुझे इतना सब कुछ निर्लोभ-भाव से सहर्ष दे रहा है। तू अपनी श्रेष्ठतम कला के पीछे इन तुच्छ स्वर्ण-खंडों का लोभ त्याग और प्रभु को प्रणामकर इस स्वर्ण-राशि को वापिस कर आ तथा अपना शिल्प-वैभव निष्काम भाव से प्रभु बाहुबलि के चरणों में समर्पित कर दे।

शिल्पी चागद वम्भदेव को अपनी मातुश्री का उपदेश भा गया, उसके भाव बदले, लोभ कषाय का उसने दहन किया, माता के उपदेश और प्रभुभक्ति ने उसकी काया-कल्प कर दी। चागद वम्भदेव ने उसी समय प्रतिज्ञा की कि इस मूर्ति का निर्माण नि:स्वार्थ और सेवाभाव से करूंगा, कोई पारिश्रमिक नहीं लूँगा और जब तक प्रतिमा का निर्माण नहीं हो जाता एकाशन व्रत धारण करूँगा। अंतरंग-विशुद्धि ने तथा लोभ-निवृत्ति ने उसके हाथों से चिपका सोना छुड़ा दिया। वह तत्काल भागा-भागा गया और प्रधानामात्य के चरणों में जा गिरा। सारी स्वर्ण-राशि लौटाते हुए बिलख-बिलख कर रोता हुआ बोला - हे प्रभु ! मेरी रक्षा करो, मेरी कला का मोल-भाव मत करो और मुझे बाहुबलि की सेवा नि:स्वार्थ भाव से करने दें। अगले दिन से शिल्पी भगवान बाहुबलि की प्रतिमा का निर्माण पूर्णतया निर्विकार भाव, बड़ी श्रद्धा-निष्ठा एवं संयमपूर्वक करने लगा। त्यागमूर्ति तक्षक चागद की ही १२ वर्ष की सतत तपस्या और साधना का पुण्य-फल है कि ऐसी अलौकिक एवं श्रेष्ठ प्रतिमा का निर्माण हो सका जो आज हजार वर्ष बाद भी संसार के भक्तजनों की श्रद्धा और आस्था का केन्द्र है तथा विश्व इतिहास और पुरातत्व की बहुमूल्य धरोहर बन गई है।

प्रधान अमात्य चामुण्डराय के अन्तस्तल में भक्त-साधक शिल्पी चागद वम्भदेव की श्रद्धा और निष्ठा के प्रति अतीव रागात्मक सद्भाव उत्पन्न हुआ अत: उन्होंने भगवान बाहुबलि के चिरस्थायीत्व की भांति साधक शिल्पी की भक्ति को भी स्थायीत्व

देने के लिए प्रतिमा के पास ही छह फुट ऊँचा चागदस्तम्भ का निर्माण कराया जो आज भी उनकी यशोगाथा गा रहा है।

इस स्तंभ की विशेषता है कि यह अधर में विद्यमान है, इसके नीचे से एक रूमाल जैसा पतला कपड़ा निकल जाता है।

अमर है वह शिल्पी चागद वम्भदेव जिसने भारत को नहीं सम्पूर्ण विश्व को एक अमूल्य धरोहर दी है।

गुल्लिकाज्जि

भगवान बाहुबलि की विराट प्रतिमा के प्रतिष्ठाचार्य थे सिद्धान्तचक्रवर्ती आचार्य श्री नेमिचन्द्र जो प्रधानामात्य चामुण्डराय के गुरु थे। उन्हीं के निर्देशन में प्रतिमा का निर्माण हुआ था। जब प्रतिमा का निर्माण हो चुका तो उसकी प्रतिष्ठा के लिए महामस्तकाभिषेक का आयोजन किया गया, जिसमें हजारों मन दूध से प्रतिमा का अभिषेक किया गया पर आश्चर्य की बात कि दूध नाभि से नीचे नहीं पहुँच रहा था। प्रतिष्ठाचार्य, प्रधानामात्य एवं उपस्थित अन्य सभी विशिष्ट पुरुष विस्मय-विमुग्ध थे कि यह सब क्या हो रहा है। सभी चिन्तित थे तभी नेमिचन्द्राचार्य श्री ने अपने निमित्त ज्ञान से जाना कि भगवान महावीर के समोशरण में कमल-पाँखुरी लेकर प्रभु-अर्चा के लिए फुदककर जानेवाले उपेक्षित मण्डूकराज की भांति यहाँ भी कोई उपेक्षित वृद्धा श्रीफल की छोटी-सी गुल्लिका (कटोरी) में दूध लिये प्रभु के अभिषेक के लिए भक्तिपूर्वक आई है पर इस विशाल जन-समूह में उसे कहीं भी कोई स्थान नहीं मिला। वह सर्वथा उपेक्षिता है इसीलिए यह दुग्धाभिषेक पूर्ण नहीं हो पा रहा है।

प्रतिष्ठाचार्य ने तुरन्त ही अपने शिष्य प्रधानामात्य को आदेश दिया कि उस वृद्धा को आदरपूर्वक लाओ तभी अभिषेक सम्पन्न हो सकेगा। गुरु-भक्त चामुण्डराय तुरन्त ही नंगे पाँव अज्जि[1] (वृद्धा) के पास पहुँचे और आदरपूर्वक प्रार्थना करके उस अज्जि को प्रभु-प्रतिमा के पास ले आये और दुग्धाभिषेक के लिए अनुरोध किया। जैसे ही अज्जि ने भक्तिभाव से गुल्लिका-भर दूध से प्रभु का अभिषेक किया वैसे ही दूध की नदियाँ बह निकलीं और विंध्यगिरि तथा चन्द्रगिरि के मध्य स्थित सरोवर दूध से लबालब भर गया। तभी से उस वृद्धा का नाम गुल्लिका अज्जि पड़ गया। कहते हैं गुल्लकाज्जि के रूप में स्वयं कुष्मांडिनी देवी ही थीं जिन्होंने चामुण्डराय को स्वप्न दिया था कि चन्द्रगिरि से स्वर्णबाण छोड़ो, भगवान बाहुबलि के दर्शन हो जायेंगे।

भगवान बाहुबलि का प्रथम महामस्तकाभिषेक समारोहपूर्वक सानन्द सम्पन्न हुआ। प्रधानामात्य चामुण्डराय ने गुल्लिकाज्जि की भक्तिभावना को एवं उसकी स्मृति को अक्षुण्ण रखने की पवित्र भावना से उसी पर्वत पर उनकी भी एक मूर्ति का निर्माण कराया जो आज भी चामुण्डराय और गुल्लिकाज्जि दोनों की यशोगाथा गा रही हैं।

---

१. (बुन्देली में) आजी = दादी मां

साम्राज्ञी शान्तलादेवी

पट्टमहादेवी शान्तलादेवी होय्यसल वंश के परम प्रतापी एवं पराक्रमी शासक बिट्टिदेव (विष्णुवर्द्धन) की राजमहिषी थी।

शान्तलादेवी के पिता का नाम मारसिङ्गय्यहेग्गडे तथा माता का नाम मानिकव्वे था। इनका जन्म शक सं. १०१२ के आस-पास अनुमानित किया जाता है। इनके पति विष्णुवर्द्धन का राज्यकाल शक सं. १०२८ से १०६३ तक माना जाता है, शान्तला का विवाह विष्णुवर्द्धन से १६ वर्ष की आयु में राज्याभिषेक के समय होना चाहिए, अतः इनका जन्मकाल शक सं. १०१२ (+ ७८ = १०९० ई.) अनुमानित किया जाता है। इनका जन्म कर्णाटक के बलिपु (बेलम्भव) ग्राम में हुआ था, जहाँ इनके पिता राज्य प्रशासक एवं ग्राम प्रमुख थे। यह ग्राम होय्यसल राज्य की राजधानी द्वारावती (द्वार समुद्र) का एक प्रशासनिक प्रकाश था। इनके पिता वीर योद्धा, पराक्रमी और स्वामीभक्त थे, शैव मतानुयायी थे जबकि इनकी पत्नी मानिकव्वे (शान्तला की माँ) जैन धर्मानुरागिणी थी। वह जिन-पूजा, देव-शास्त्र गुरु की श्रद्धा, रत्नत्रय व्रत धारण किया करती थी; जैनाचार्यों, मुनियों एवं जैन गुरुओं की भक्ति करती थी। अन्त समय इन्होंने सल्लेखनापूर्वक देह-विसर्जन किया था। इतनी अधिक धार्मिक विभिन्नताओं के बावजूद भी पति-पत्नी में परस्पर अपार स्नेहपूर्ण सामंजस्य एवं समन्वय था।

शान्तलादेवी ने अपनी माता के पूर्ण संस्कार अधिगृहीत किए थे फलतः वह भी जिनशासन और जैन आचार्यों के प्रति विशेषरूप से भक्तिभाव रखती थी। जब वह केवल सात-आठ वर्ष की बालिका ही थी तभी उसके क्रिया-कलापों, विचारों तथा दैनिक व्यवहार से प्रभावित हो उसके गुरु बोकिमय्य ने भविष्यवाणी की थी कि शान्तला जगत-मानिनी बनकर सारे विश्व में गरिमायुक्त गौरव के साथ पूजी जानेवाली मानव देवता की पदवी प्राप्त करेगी और सचमुच ही जैसे ही शान्तला ने षोडशी होकर युवावस्था में पदार्पण किया तथा होय्यसल वंश के परम प्रतापी तेजस्वी राजकुमार बिट्टिदेव या बिट्टिग (विष्णुवर्द्धन) की प्राणवल्लभा बनकर होय्यसल राज्य की साम्राज्ञी पद को सुशोभित किया तो गुरु बोकिमय्य की भविष्यवाणी की सफलता के साक्षात् दर्शन हुए और लगभग ७०-७५ विरुदों से अलंकृत हो जगत-मानिनी कहलायी।

किंवदन्ती है कि शान्तला के पति विष्णुवर्द्धन रामानुजाचार्य के प्रभाव से वैष्णव धर्म में दीक्षित होने जा रहे थे। जब वे देवी के दर्शनों के लिए मन्दिर गये तभी अचानक भयंकर भूकम्प आया, सारे राज्य में त्राहि-त्राहि मच गई जिससे भयभीत हो विष्णुवर्द्धन ने वैष्णव धर्म में दीक्षित होने का विचार त्याग दिया और अपनी पट्टमहादेवी शान्तला के साथ-साथ जिनशासन के प्रति श्रद्धावान् बने रहे। साम्राज्ञी शान्तलादेवी ने धवला आदि ग्रन्थ ताड़-पत्रों पर उत्कीर्ण कराये थे। इनके पत्रों पर शान्तलादेवी और विष्णुवर्द्धन के चित्र अंकित हैं। यह राजशासन, कला, संगीत में तथा धार्मिक, समाज-सेवा आदि कार्यों में निष्णात थी जिससे प्रजाजन उसके प्रति अत्यधिक श्रद्धावान, विनीत और भक्त थे। उसके वैयक्तिक गुणों एवं शासकीय कुशलता के फलस्वरूप तत्कालीन प्रजाजनों ने उसे इतने अधिक विरुदों (विशेषणों) से अलंकृत किया था कि संभवत: संसार का कोई ही साम्राज्ञी या सम्राट इतने अधिक अलंकारों से अलंकृत हुआ हो। तत्कालीन इतिहास तथा शिलालेख इन अलंकारों से भरे पड़े हैं। ये सब श्रवणबेलगोल के चन्द्रगिरि पर्वत पर निर्मित गंधवारण वसदि में उत्कीर्ण हैं।

राजमहिषी शान्तलादेवी गुणवती के साथ-साथ सुन्दर और रूपवती भी थी। इसलिए इतिहासकारों ने उसे अनेक सुन्दर अलंकारों से अलंकृत किया है। साम्राज्ञी शान्तलादेवी विद्या, बुद्धि-कौशल, प्रत्युत्पन्नमतित्व, कला-संगीत आदि व्यक्तिगत गुणों से इतनी अधिक समृद्ध एवं सम्पन्न थी कि लोगों ने उसे कई विशेषणों से विभूषित किया।

पट्टरानी शान्तला पतिव्रता थी, उसने अपनी भक्ति और सेवा-शुश्रूषा से अपने पति विष्णुवर्द्धन का मन जीत लिया था। इसीलिए उसे पातिव्रत संबंधी अनेक अलंकारों से अलंकृत किया गया।

साम्राज्ञी शान्तलादेवी ने शक सं. १०४४ (+ ७८ = ११२२ ई.) के लगभग वेल्गुलु के चन्द्रगिरि पर्वत पर अपने विरुद 'सवति गन्धवारण' (अर्थात् सोतों के लिए मदोन्मत्त हस्ति) के नाम पर 'गन्धवारण वसदि' का निर्माण कराया था तथा उसमें तीर्थंकर शान्तिनाथ की पाँच फुट ऊँची कायोत्सर्ग मुद्रा में सुन्दर कलापूर्ण मनोज्ञ प्रतिमा प्रतिष्ठापित कराई थी।

शान्तलादेवी ने गन्धवारण वसदि के निर्माण के पश्चात् उसके पूजन-प्रक्षाल एवं अभिषेक हेतु वहीं पर एक गंग समुद्र नामक श्रेष्ठ सरोवर का निर्माण कराया तथा वसदि की सुरक्षा एवं संरक्षा हेतु तथा दैनिक कार्यकलापों के लिए एक ग्राम भी दान किया।

यद्यपि राजरानी शान्तलादेवी इतने अधिक सद्‌गुणों से सम्पन्न थी तथा सम्पूर्ण होय्यसल वंश का राज-शासन उसके इशारों पर नाचता था पर दुर्भाग्य कि उसे

दीर्घायुष्य प्राप्त नहीं था। वह बड़ी ही अल्पवय में, लगभग चालीस वर्ष की आयु में दिवंगत हो गयी। चैत्र शुक्ला पंचमी, सोमवार शक सं. १०५० (+ ७८ = ११२८ ई.) में महारानी शान्तला देवी शिवगंगे नामक स्थान पर अपने पति विष्णुवर्द्धन माता मानिकव्वे और पिता मारसिङ्गय्यहेग्गडे को बिलखता छोड़ अपने गुरु प्रभाचन्द्र की उपस्थिति में सल्लेखनापूर्वक समाधिमरण कर स्वर्ग सिधारी। इसका विस्तृत उल्लेख श्रवणबेलगोल की चन्द्रगिरि पहाड़ी पर गन्धवारणवसदि के द्वितीय मण्डप के तृतीय स्तम्भ पर उत्कीर्ण शक सं. १०५० के शिलालेख में है। इसमें चालीस श्लोक हैं जिसमें होय्यसल वंश के राजाओं के पराक्रम के वर्णन के बाद शान्तलादेवी के सल्लेखना का विवरण है।

साम्राज्ञी शान्तला जैनधर्म की कीर्तिध्वजा को फहराती हुई अल्पायु में ही दिवंगत हो गई थी पर उसकी यश-पताका आज भी लगभग नौ सौ वर्ष के इतिहास में निष्कलुष और अक्षुण्ण बनी हुई है।

साहू श्री नेमिचन्द्र

साहू नेमिचन्द्र अपने समय के बड़े धार्मिक, अति धनिक एवं प्रतिष्ठित श्रेष्ठी थे। उन्हें देव, शास्त्र और गुरु पर असीम आस्था थी। उनके विषय में विस्तार से लिखने से पूर्व उन महाकवि का परिचय कराना नितान्त आवश्यक है जिनके कारण साहू नेमिचन्द्र की यशोगाथा अमर हो गई और लोग उन्हें आज श्रद्धा से स्मरण करते हैं।

वे महाकवि थे अपभ्रंश भाषा के श्रेष्ठ कवि विबुध श्रीधर। अपभ्रंश में रचना करनेवाले श्रीधर नाम के कई कवि हुए हैं। साहू नेमिचन्द्र के आग्रह, अनुनय-विनय और प्रार्थना पर अपभ्रंश में 'वड्ढमाण चरिउ' की रचना करनेवाले कविश्रेष्ठ विबुध श्रीधर का समय वि. सं. ११९० है।

कवि विबुध श्रीधर ने छह काव्यों की रचना की - (१) 'पासणाहचरिउ' जो नट्टल साहू की प्रार्थना पर की, (२) 'वड्ढमाणचरिउ' जो साहू नेमिचन्द्र की प्रार्थना पर की, (३) 'सुकुमालचरिउ' जो पीथे साहु के पुत्र कुमर की प्रार्थना पर की, (४) 'भविसयत्तकहा' जो सुपट्ट साहू की प्रार्थना पर की, (५) 'संति-जिणेसर-चरित' और (६) 'चंदप्पहचरिउ'। इनमें से अन्तिम दोनों रचनाएं अप्राप्य हैं अत: उनके विषय में कुछ भी नहीं कहा जा सकता। विभिन्न भण्डारों में ढूँढ़ने से ये दोनों ग्रन्थ मिल सकते हैं।

कवि की उपर्युक्त रचनाएँ वि. सं. ११८९ से वि. सं. १२३० के मध्य की हैं। उन्होंने 'पासणाहचरिउ' में दिल्ली का जो ऐतिहासिक वर्णन प्रस्तुत किया है वह तत्कालीन इतिहास का बहुमूल्य साक्ष्य एवं तथ्य है और सभी इतिहासकार इसे प्रामाणिकरूप में स्वीकार करते हैं जो सर्वथा निर्विवाद और सत्य है। कवि हरियाणा के निवासी थे और अग्रवाल जैन थे। जब वे यमुना पारकर दिल्ली आये तब वहाँ अनंगपाल तोमर द्वितीय का राज्य था। दिल्ली को उस समय ढिल्ली क्यों कहा जाता था यहाँ इसकी थोड़ी-सी चर्चा कर देना कुछ अप्रासंगिक न होगा।

'पृथ्वीराज रासो' के अनुसार अनंगपाल के पूर्वज कल्हण राजा हस्तिनापुर में राज्य करते थे। एक बार जब वे शिकार खेलने गये तो दिल्ली के आस-पास आकर उन्होंने देखा कि एक खरगोश उनके शिकारी कुत्ते से जूझ रहा है और उसे दु:खी कर रहा

है। इसे देख राजा कल्हण बड़े विस्मित हुए और उन्होंने इसे वीर-भूमि समझ वहाँ एक लोहे की कील्ली गाड़ दी और उस स्थान का नाम कील्ली अर्थात् कल्हणपुर रख दिया। कई पीढ़ियों बाद जब वहाँ किला बनवाने की बात आई तो राजपुरोहित से भूमि-पूजन तथा स्थान-शुद्धि को कहा। राजपुरोहित ने पुनः उसी स्थान पर कील्ली गाड़ी और कहा कि पाँच मुहूर्त तक इसे कोई न छेड़े। जब तक यह कील्ली गड़ी रहेगी तोमरवंश अखण्ड और चिरस्थायी बना रहेगा, इसे कोई भी परास्त न कर सकेगा। इतनी भविष्यवाणी कर राजपुरोहित चले गये।

राजपुरोहित के जाते ही राजा अनंगपाल द्वितीय ने जिज्ञासावश वह कील्ली तुरन्त उखाड़ दी जिससे वहाँ रक्त की धारा बह निकली, कील्ली का अग्रभाग भी रक्तरंजित था। जब पुरोहित को पता चला तो वह बड़ा दुःखी हुआ और उसने कहा - हे राजन्, इस कील्ली के ढीली होने से तुम्हारा राज्य भी ढीला हो जाएगा। तब से यह स्थान ढिल्ली के नास से प्रसिद्ध हुआ। बाद में यह दिल्ली नाम में परिवर्तित हुआ। विभिन्न कालों में दिल्ली को विभिन्न नामों से ख्याति मिली। यथा - इन्द्रप्रस्थ, योगिनीपुर, शाहजहानाबाद आदि-आदि लगभग १५-१६ नाम दिल्ली के इतिहास में विख्यात हैं।

कवि विबुध श्रीधर जब हरियाणा से चलकर दिल्ली में अपने परम भक्त साहू अल्हण के घर ठहरे तो उन्होंने बड़े आदर एवं भक्तिभाव से कवि का सत्कार किया। एक दिन साहू अल्हण ने तत्कालीन राजश्रेष्ठी प्रसिद्ध सार्थवाह साहू नट्टल की चर्चा की और उनसे भेंट करने को प्रेरित किया पर कवि विबुध श्रीधर ने सेठों के दुर्जन-भाव के कारण वहाँ जाने से इन्कार कर दिया।

तब अल्हण साहू ने कविवर को विश्वास दिलाया कि नट्टल साहू ऐसे सेठ नहीं हैं, वे बड़े धार्मिक और विद्वानों का आदर करनेवाले हैं। अतः आप एक बार तो अवश्य ही उनसे मिलिए। मैं आपके साथ रहूँगा। अल्हण साहू से इस तरह आश्वस्त हो कविवर नट्टल साहू से मिलने गये।

नट्टल साहू को जब कविवर के शुभागमन का पता चला तो वे स्वयं उनकी अगवानी के लिए दलबल-सहित नंगे पाँव पैदल यात्रा करके आये और उन्हें बड़े भक्ति-भाव से आदरसहित घर ले आये। श्रद्धासहित उनका सत्कार किया, प्रतिदिन उनसे शास्त्र-प्रवचन सुना। उनके व्यक्तित्व, विद्वत्ता एवं प्रतिभा से प्रभावित हो नट्टल साहू ने कविवर से पार्श्वप्रभु का चरित सुनने की हार्दिक अभिलाषा प्रकट की। कविवर ने उनके अनुरोध पर 'पासणाहचरिउ' की रचना की। कविवर के कहने पर नट्टल साहू ने महरौली के पास भगवान् आदिनाथ का जिनालय निर्माण करवाया, जिसके

ध्वंसावशेष अभी भी कुतुबमीनार के आस-पास के खण्डहरों में यत्र-तत्र देखने को मिल जाते हैं।

कवि विबुध श्रीधर का जन्म वि. सं. ११५४ के आस-पास माना जाता है। वे लगभग ७६ वर्ष की आयु तक साहित्य-रचना करते रहे। इनके पिता का नाम गोल्हपा था, माता का नाम बील्हा। इसके अतिरिक्त कवि के विषय में कोई और अधिक जानकारी नहीं मिलती है। कवि ने वोदाउव (बदायूँ) निवासी जैसवाल कुलोत्पन्न श्री नरवर और उनकी पत्नी सोमइ (सुमति) के पुत्र साहू नेमिचन्द्र के अनुरोध और प्रार्थना पर 'वड्ढमाणचरिउ' की रचना की थी।

कवि ने अपने ग्रन्थ 'वड्ढमाणचरिउ' की प्रत्येक संधि के अन्त में साहू नेमिचन्द्र की प्रशंसा में एक-एक संस्कृत श्लोक लिखा है, इस प्रकार साहू नेमिचन्द्र की इन श्लोकों द्वारा एक अच्छी-खासी प्रशस्ति बन जाती है।

साहू नेमिचन्द्र की पत्नी का नाम वीणा था। इनके रामचन्द्र, श्रीचन्द्र और विमलचन्द्र नाम के तीन पुत्र थे। कवि के प्रशंसात्मक श्लोकों से साहू नेमिचन्द्र के गुणों एवं प्रतिष्ठा का पता लगता है।

साहू नेमिचन्द्र धार्मिक, दयालु, परोपकारी थे और जिनभक्ति आदि गुणों से मंडित थे। प्रशस्ति में प्रयुक्त 'न्यायान्वेषण तत्पर:' तथा 'बन्दिदत्तोतुचन्द्र:' जैसे विशेषणों से ज्ञात होता है कि साहू नेमिचन्द्र राज-सम्मानित पदाधिकारी थे और न्याय-विभाग में संबंधित दण्डाधिकारी के पद पर आसीन थे। साहू नेमिचन्द्र अपने समय के प्रतिष्ठित व्यापारी थे तथा उनका व्यापारिक संबंध राज्य से बाहर विदेशों से भी था। लगता है वे अपने समय के बड़े भारी सार्थवाह भी रहे हों जिनके जहाज यहाँ का माल विदेशों में ले जाते और वहाँ का माल यहाँ लाते थे।

साहू नेमिचन्द्र ज्योतिषशास्त्र एवं खगोलविद्या में भी निष्णात एवं पारंगत थे। साहू नेमिचन्द्र प्रतिष्ठित राज-सम्मानित अधिकारी थे, वे सज्जनों की प्रशंसा करते तथा दुष्टों को दण्ड देते थे। वे साधु स्वभावी थे। इतनी अधिक भोग-सम्पदा को भोगते हुए भी वे संसार से सदा विरक्त रहते थे, गुणीजनों का सम्मान करते थे, जिन मन्दिर में मुनिजनों से समताभावपूर्वक धर्म-चर्चा सुना करते थे, समता-भाव धारण करते हुए बारह अनुप्रेक्षाओं का चिन्तन करते थे, स्वयं स्वाध्याय-प्रेमी और विद्वज्जनानुरागी थे। शंकादिक दोषों से रहित दस धर्मों का पालन करते थे और मिथ्यात्व का नाश करते थे। वे अपने कुल-कमल के लिए सूर्य के समान थे तथा कुलकीर्ति को बढ़ानेवाले थे, आगम-सम्मत पर-मतों की बातों को भी मानते थे। वे संवेगादिक गुणों से अलंकृत

थे तथा प्रतिदिन जिनार्चन किया करते थे। इस तरह साहू नेमिचन्द्र अनेक मानवीय एवं धार्मिक गुणों से सम्पन्न थे इसीलिए कवि विबुध श्रीधर ने साहू नेमिचन्द्र की प्रशंसा में नौ श्लोकों की प्रशस्ति लिखी और उनके अनुरोध पर कवि ने 'वड्ढमाणचरिउ' रचा। ऐसे गुणानुरागी श्रेष्ठी को शत-शत नमन है।

श्री नट्टल साहू

सार्थवाह शब्द की व्याख्या करते हुए अमरकोष के टीकाकार क्षीरस्वामी ने लिखा है - "जो पूँजी के द्वारा व्यापार करनेवाले सार्थों (व्यापारियों के दल) का अगुआ हो वह सार्थवाह है।"[1] प्राचीन भारत की सार्थवाह-परम्परा का गुणगान डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल ने इस प्रकार किया है - "कोई एक उत्साही व्यापारी सार्थ बनाकर व्यापार के लिए उठता था। उसके सार्थ में और लोग भी सम्मिलित हो जाते थे जिसके निश्चित नियम थे। सार्थ का उठना व्यापारिक क्षेत्र की बड़ी घटना होती थी। धार्मिक तीर्थ-यात्रा के लिए जैसे संघ निकलते थे और उनका नेता संघपति (संघवई, संघवी) होता था वैसे ही व्यापारिक क्षेत्र में सार्थवाह की स्थिति थी। भारतीय व्यापारिक जगत् में जो सोने की खेती हुई उसके फूले पुष्प चुननेवाले व्यक्ति सार्थवाह थे। बुद्धि के धनी, सत्य में निष्ठावान्, साहस के भण्डार, व्यावहारिक सूझ-बूझ में पगे हुए, उदार, दानी, धर्म और संस्कृति में रुचि रखनेवाले, नई स्थिति का स्वागत करनेवाले, देश-विदेश की जानकारी के कोष, रीति-नीति के पारखी, भारतीय सार्थवाह महोदधि के तट पर स्थित ताम्रलिप्ति से सीरिया की अन्ताखी नगरी तक, यवद्वीप और कटाह द्वीप से चोलमंडल के सामुद्रिक पत्तनों और पश्चिम में यवन बर्बर देशों तक के विशाल जल-थल पर छा गए थे।"[2]

सार्थवाहों की गौरवशाली परम्परा शक्तिशाली राज्यों के अभाव, केन्द्रीय सत्ता के बिखराव, जीवन की असुरक्षा एवं अराजकता के कारण लोप होने लगी थी। इस समाप्तप्राय: परम्परा में विक्रम संवत् ११८९ (ई. सन् ११३२) में दिल्ली के एक प्रसिद्ध जैन धर्मानुयायी श्रावक शिरोमणि नट्टल साहू के दर्शन हो जाते हैं।

विबुध श्रीधर नामक अपभ्रंश के श्रेष्ठ कवि ने अपनी 'पासणाहचरिउ' नामक उत्कृष्ट रचना में विभिन्न स्थलों पर बड़े गौरव के साथ उनका उल्लेख एवं प्रशंसा की है। उन्होंने उनके नाम का नट्टल, णट्टलु, नट्टण, नट्टलु, नट्टणु, नट्टुल आदि रूपों में उल्लेख किया है।

---

१. सार्थवाह, डॉ. मोतीचन्द्र, भूमिका - डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल, पृष्ठ १।
२. वही, पृष्ठ २।

अग्रवालवंशी नट्टल साहू के पिता का नाम जेजा तथा माता का नाम मेमडिय था। जेजा साहू के राघव, सोढ़ल और नट्टल नाम के तीन पुत्र थे, जिनमें से तृतीय पुत्र नट्टल साहू बड़ा प्रतापी, तत्कालीन श्रेष्ठ समृद्ध व्यापारी एवं धार्मिक निष्ठा से परिपूर्ण राजनीतिज्ञ भी था।[१] कवि विबुध श्रीधर जब हरियाणा से दिल्ली आये तो वे अल्हण साहू के यहाँ ठहरे जो तत्कालीन राजमंत्री थे। उन्हें अपनी प्रथम रचना 'चंदप्पहचरिउ' सुनाई जिससे प्रभावित होकर अल्हण साहू ने कवि से अनुरोध किया कि वे नट्टल साहू से अवश्य ही मिलें। इस पर कवि ने कहा कि इस संसार में दुर्जनों की कमी नहीं है, मुझे कहीं अपमानित न होना पड़े इसलिए जाने के लिए झिझक रहा हूँ। परन्तु जब अल्हण साहू ने नट्टल साहू के गुणों की प्रशंसा की और उसे अपना मित्र बताया तब अल्हण के अनुरोध पर कविवर नट्टल साहू से मिलने गये।

नट्टल साहू ने कविवर का उचित सम्मान और आदर किया और श्रद्धा-भक्तिपूर्वक उनसे अनुरोध किया कि 'पासणाहचरिउ' की रचना करें। तब कविवर ने पासणाहचरिउ की रचना प्रारंभ की और वि. सं. ११८९, मार्गशीर्ष कृष्णा अष्टमी, रविवार को दिल्ली में समाप्त की। यह ग्रंथ इतिहास की दृष्टि से बड़ा महत्वपूर्ण है। इसमें तत्कालीन तोमरवंशी राजा अनन्तपाल के शासन का प्रामाणिक वर्णन मिलता है। इसके साथ ही तत्कालीन सामाजिक, धार्मिक एवं आर्थिक परिस्थितियों का भी विस्तृत ऐतिहासिक विवेचन मिलता है। यह अनंगपाल कौन था – द्वितीय या तृतीय इस पर विद्वानों में पर्याप्त मतभेद है।

नट्टल साहू ने दिल्ली में भगवान श्री आदिनाथ का भव्य मन्दिर बनवाया और कवि श्रीधर की प्रेरणा से चन्द्रप्रभ स्वामी की प्रतिमा प्रतिष्ठित कराई, मन्दिर पर पंचरंगी ध्वजा फहराई। नट्टल साहू जहाँ समृद्ध और धनी व्यक्ति थे वहाँ उदार, धार्मिक एवं परोपकारी जीव भी थे। उनका व्यापार अंग-बंग, कलिंग, गौड़, केरल, कर्नाटक, चोल, द्रविड़, पांचाल, सिंध, खस, मालवा, लाट, लट, लोट, नेपाल, ध्वक, कोंकण, महाराष्ट्र, भदानक, हरियाणा, मगध, गुर्जर, सौराष्ट्र आदि देशों से होता था। वहाँ के राजा नट्टल साहू का बड़ा भरोसा और आदर करते थे। वे बहुत बड़े सार्थवाह थे और हो सकता है उन्होंने महाराजा अनंगपाल के संदेशवाहक राजदूत के रूप में भी विस्तृत ख्याति अर्जित की हो।

---

१. श्री हरिहर द्विवेदी ने जेजा को नट्टल का मामा लिखा है संभवत यह कोई और व्यक्ति होगा। उन्होंने नट्टल के प्रशंसक अल्हण को नट्टल का पिता बताया, यह भी प्रमाणसिद्ध नहीं है क्योंकि अल्हण साहू ने तो कवि विबुध श्रीधर को नट्टल साहू से भेंट करने को प्रेरित किया था। दिल्ली के तोमर, पृष्ठ ७९।

किसी का मत है कि नट्टल साहू ने आदिनाथ की जगह पार्श्वनाथ का मन्दिर बनवाया था; किन्तु इसका कोई प्रामाणिक उल्लेख नहीं मिलता। जो कुछ भी हो, कालान्तर में यह मन्दिर ध्वस्त कर दिया गया जिसके अवशेष अब भी महरोली में कुतुबमीनार के पास उपलब्ध होते हैं। नट्टल को अनंगपाल का मंत्री भी कहा जाता है, पर ऐसा कहीं उल्लेख नहीं है। संभवतया उसके प्रताप एवं समृद्धि के कारण उसे अनंगपाल का मंत्री मान लिया गया हो।

श्री नट्टल साहू तत्कालीन दिल्ली जैन समाज के एक प्रमुख श्रेष्ठ ऐतिहासिक पुरुष थे जिनकी कीर्ति दिग्दिगन्त तक व्याप्त थी।

कविवर विबुध श्रीधर ने अपने ग्रन्थ में नट्टल साहू के विषय में अपभ्रंश में जो कुछ लिखा है उससे इस श्रेष्ठि श्रावक के चरित्र के उदात्त गुणों और सूक्ष्मातिसूक्ष्म विशेषताओं का विशेष परिचय मिलता है।

श्री पाड़ासाह

बुन्देलखण्ड किसी समय में बड़ा गरिमामय प्रदेश रहा है जो जेजाक-भुक्ति नाम से इतिहास में प्रसिद्ध है। यहाँ आल्हा-ऊदल जैसे रणबांकुरे हुए थे जिनकी वीरता की गाथाएं आज भी बुन्देलखण्ड के गांव-गांव में गाई जाती हैं। जगनिक और ईशरी वहाँ के प्रसिद्ध लोक कवि थे जिनका लोक-संगीत गाँवों की अमराइयों और अथाइयों में आज भी सुना जाता है। बड़े-बड़े सन्त और श्रेष्ठी हुए जिन्हें लोग आज भी सम्मान और आदर से याद करते हैं। ऐसे ही भक्त श्रेष्ठियों में एक श्रेष्ठि, भक्त-शिरोमणि, जैन-जगत् का गौरव श्री पाड़ासाह भी थे। यद्यपि इनका मूल नाम कुछ और ही रहा होगा परन्तु ये पाड़ों का व्यापार किया करते थे, पाड़ों से इन्हें व्यापार में खूब लाभ हुआ था और अपार सम्पत्ति अर्जित की थी। उस धन से इन्होंने अनेक जिनालयों का निर्माण कराया तथा जिनबिम्ब प्रतिष्ठित कराये जिससे इनको बहुत कीर्ति मिली और ये 'पाड़ासाह' नाम से विख्यात हो गये। पाड़ा का पर्यायवाची भैंसा है अतः लोग इन्हें 'भैंसासाह' भी संबोधित किया करते थे। ऐतिहासिक अभिलेखों में इनका 'पाड़ासाह' नाम से उल्लेख मिलता है।

पाड़ासाह में साह शब्द साहू के समकक्ष माना जाता है जो प्राचीन साधु शब्द के अर्थ का द्योतक है और श्रेष्ठता, शालीनता, उच्चता, प्रतिष्ठा आदि भावों के लिए प्रयुक्त होता था, कालान्तर में साधु साहू के रूप में परिवर्तित हुआ और वह श्रेष्ठ व प्रतिष्ठित व्यापारी के लिए प्रयुक्त होने लगा। साहू से साहूकार हो गया जो धनी का वाचक बना। यही साहू शब्द बुन्देलखण्ड में साह या साव कहलाया और उसके लिए प्रयुक्त होने लगा जो वस्तु गिरवी रखकर पैसा देता था। मध्यकाल में ऐसे ही प्रतिष्ठित और धनी लोगों के नाम के आगे साहू शब्द का प्रयोग किया जाता था जैसा कि अनेक प्राचीन हस्तलिखित ग्रंथों की प्रशस्तियों में पाया जाता है। पर बुन्देलखण्ड में साहू (साह) का प्रयोग नाम के बाद लगा हुआ मिलता है इसलिए साह पाड़ा 'पाड़ासाह' हो गये और इसी नाम से विख्यात हो गये। आगे आनेवाले लोग इसे ही इनका मूल नाम समझकर इन्हें पाड़ाशाह लिखने लगे। अतः हम भी आगे अपने सम्पूर्ण लेख में 'पाड़ासाह' शब्द का ही प्रयोग करेंगे।

पाड़ासाह का कोई विशेष इतिहास नहीं मिलता है। वे आत्मप्रशंसा और स्वख्याति से सर्वथा दूर रहते थे। उनका मूल लक्ष्य था - नेकी कर दरिया में डाल। उन्होंने जो

कुछ किया वह जन-अनुश्रुतियों और किंवदन्तियों में विख्यात है। वे गृहपति वंश में उत्पन्न हुए थे जो अपभ्रंश में 'गहवइ' कहलाया और हिन्दी-बुन्देली में 'गहोई' हो गया। 'गहोई' वैश्य जाति है जो झाँसी, दतिया, चिरगाँव, बरुआसागर, मऊरानीपुर आदि शहरों के आस-पास के इलाके में आज भी पाई जाती है। पहले इस जाति में बहुत से लोग जैन धर्मावलम्बी हुए हैं, पर अब तो उस जाति का विरला ही कोई जैन हो। पाड़ासाह चन्देरी के पास थूवोनजी नामक ग्राम के निवासी थे। उन्होंने बजरंगगढ़ के पास पाड़ाडीह में फागुन सुदी ६ सं. १२३६ को तीर्थंकर शान्तिनाथ, कुन्थुनाथ और अरहनाथ की त्रिमूर्ति प्रतिष्ठित कराई थी, ऐसा उल्लेख मिलता है।

ऐसी किंवदन्ती है कि पाड़ासाह तीर्थंकर शान्तिनाथ के परम भक्त थे अतः उन्होंने जहाँ भी, जो भी मूर्ति बनवाई और प्रतिष्ठित कराई वे सब तीर्थंकर शान्तिनाथ की ही हैं। कहा जाता है कि अहारजी क्षेत्र पर जो अठारह फीट ऊँची विशालकाय कायोत्सर्ग मुद्रा में स्थित तीर्थंकर शान्तिनाथ की रम्य सुन्दर प्रतिमा आज विराजमान है, जिस पर सं. १२३७ का सात श्लोकों का विस्तृत मूर्ति-लेख है, वह इन्हीं के परिवारजनों ने इनके ही सहयोग से निर्मित और प्रतिष्ठित कराई थी। सब कुछ इन्हीं का था पर इन्होंने उसमें अपना नामोल्लेख वगैरह का कुछ भी संकेत नहीं कराया।

उस मूर्ति-लेख का सारांश यह है कि श्री देवपाल ने वानपुर में सहस्रकूट चैत्यालय बनवाया था। (आज भी खण्डित दशा में यह वहाँ विद्यमान है। वानपुर अहारजी के पास ही एक गाँव है। यहाँ का तालाब प्रसिद्ध है।) देवपाल के पुत्र रत्नपाल ने बसुहाटिका नगर में एक जिनबिम्ब निर्मित कराया था। यहाँ एक प्रसिद्ध श्रेष्ठि अल्हण रहते थे। जिन्होंने नन्दपुर या आनन्दपुर में श्री शान्तिनाथ का चैत्यालय बनवाया था तथा मदनेस सागर (अहारजी) में भी शान्ति जिनालय बनवाया था। इन्हीं श्रेष्ठी के घर गल्हण का जन्म हुआ था। गल्हण के बड़े पुत्र का नाम जाहढ़ था और छोटे का नाम उदयचन्द्र था। इन्हीं दोनों भाइयों जाहढ़ और उदयचन्द्र ने अगहन सुदी तृतीया शुक्रवार सं. १२३७ को श्रीमान् परमर्द्धिदेव विजय के राज्य में यह शान्ति-जिनबिम्ब प्रतिष्ठित कराया था। उन प्रशस्ति स्वरूप श्लोकों के रचयिता श्री धर्माधिकारी थे, जिन्हें बाल्हण के पुत्र पापट ने उत्कीर्ण किया था और यह जिनबिम्ब रचा था। उस प्रशस्ति में वर्णित नगर वसुहाटिका और नंद या आनन्दपुर यहीं-कहीं आस-पास होंगे जिनके नाम कालदोष से बदल गये होंगे। वानपुर और मदनेससागर तो आज भी विख्यात हैं। मदनेससागर अहारजी कैसे हो गया इसका उल्लेख हम आगे करेंगे। हमारे लेख के चरित्रनायक पाड़ासाह का मूल नाम इन्हीं गल्हण और बाल्हण में से किसी एक का हो सकता है ऐसा मेरा अनुमान है। इसमें कोई आश्चर्य या अतिशयोक्ति भी नहीं है क्योंकि सभी कुछ मिलता-जुलता है।

पाड़ासाह ने अहारजी, खानपुर, झालरापाटन, थूबौनजी, मियादास, वरी, आमीन, सतना, सुझेका पहाड़, पचराई, सेरोन आदि स्थानों पर जिनालयों का निर्माण कराया था और वहाँ सभी स्थानों पर शान्तिनाथ के कायोत्सर्ग मुद्रा में जिनबिम्ब प्रतिष्ठित कराये थे। ये सभी जिनबिम्ब हल्के लाल या कत्थईरंगी पाषाण से निर्मित हैं और खड्गासन मुद्रा में हैं। पद्मप्रभ की माणिक्य की सत्रह इंच की एक बहुमूल्य प्रतिमा चन्देरी के पास बीठली गांव में आपने ही स्थापित कराई थी। पाड़ासाह ने इतना विशाल सांस्कृतिक एवं धार्मिक कार्यक्रम केवल पाड़ों (भैंसों) द्वारा किये हुए व्यापार से अर्जित धन-राशि द्वारा ही किया था। उन्हें इतनी अपार धनराशि और वैभव/सम्पत्ति कैसे प्राप्त हुई थी इस विषय में कई अनुश्रुतियाँ एवं किंवदन्तियाँ विख्यात हैं। जैसे एक बार जब पाड़ासाह व्यापार के लिए पाड़ों का खांड़ू (झुण्ड) लेकर बजरंगगढ़ गये तो मार्ग में उनका एक पाड़ा कहीं खो गया जिसे ढूंढ़ने साहजी निकल पड़े। ढूंढ़ते-ढूंढ़ते एक स्थान पर वह चरता हुआ मिल गया, पर साहूजी के विस्मय का ठिकाना न रहा जब उन्होंने देखा कि पाड़े के पैर का नाल सोने-सा चमक रहा है, उन्होंने उसे ध्यान से देखा, सचमुच ही वह स्वर्णमय था तो उन्होंने परीक्षण हेतु दूसरा पाड़ा भेजा, उसका भी नाल सोने का हो गया। फिर तो क्या था, थोड़ा परिश्रम करके उन्हें वहाँ पारस पथरी मिल गई और इसी पारस पथरी से उनके यहाँ अपार-धन सम्पत्ति हो गई जिसे उन्होंने जिनालयों और जिनबिम्बों की प्रतिष्ठा में लगा दिया।

एक और अनुश्रुति प्रसिद्ध है कि श्री पाड़ासाह एक बार रांगा खरीदने लासपुर गये, वहाँ से रांगे को लाकर जैसे ही घर में रखने लगे तो वह सब रजत (चांदी) हो गया। पाड़ासाह ने जब वह चांदी देखी तो उन्हें भ्रम हुआ कि लासपुर के व्यापारी ने भूल से रांगे की जगह चांदी दे दी है। वे तुरन्त ही वापिस गए और उनसे कहा - भाई । हमने तो रांगा खरीदा था, आपने चांदी दे दी! अपनी चाँदी वापिस लो और हमें रांगा दो। लासपुर के व्यापारी ने जब जाँच-पड़ताल की तो बोला - साहूजी ! हमने तो रांगा ही दिया था। अब आपके पुण्य-प्रताप से यदि वह चाँदी हो जाय तो वह आपकी ही है, हमें इससे कोई लेना-देना नहीं। हमें तो अपनी वस्तु का मूल्य मिल गया। बस यही पर्याप्त है। पाठक ध्यान दें क्या आज ऐसे क्रेता-विक्रेता मिलेंगे। पाड़ासाह चांदी वापिस ले गये और उसे उन्होंने धार्मिक कार्यों में लगा दिया। कहा जाता है एक बार पाड़ासाह ने पंगत (सामूहिक भोज, पंक्तिभोज) की थी तो इतने पकवान और भोज्य सामग्री तैयार कराई थी कि बावन मन मिर्ची का चूरा भी कम पड़ गया था, इससे अनुमान किया जा सकता है कि उस पंगत में कितने लोग आमन्त्रित किए गए होंगे। पाड़ासाह की भक्ति और सम्पत्ति अन्योन्याश्रित थी। सच्ची प्रभुभक्ति से उन्हें अपार सम्पत्ति मिली

थी और इस सम्पत्ति को वे प्रभुभक्ति के प्रतीक जिनालय और जिनबिम्बों के निर्माण और प्रतिष्ठा में सहर्ष मुक्तहस्त से व्यय किया करते थे।

मदनेससागर का नाम अहारजी क्यों पड़ा ? इस संबंध में किंवदन्ति है कि पाड़ासाह अतिथि-संविभाग शिक्षाव्रत का पालन दृढ़ता से किया करते थे। अतिथि को भोजन कराए बिना स्वयं भोजन नहीं करते थे। एक बार ऐसा कुसंयोग जुड़ा कि तीन दिन तक पाड़ासाह को कोई भी अतिथि न मिला, फलस्वरूप वे भी निराहार रहे। चौथे दिन पुनः अतिथि की प्रतीक्षा में खड़े हुए कि सहसा एक वीतरागी निर्ग्रन्थ मुनि वहाँ आ पधारे। पाड़ासाह के हर्ष का पारावार न रहा। उन्होंने भक्तिभाव से पुलकित हो मुनिश्री को आहार-दान दिया। तभी से मदनेससागर का नाम अहारजी पड़ गया। यह स्थान बुन्देलखण्ड में चमत्कृत अतिशय क्षेत्र के रूप में विख्यात है।

पाड़ासाह बुन्देलखण्ड के प्रतिष्ठित जैन व्यापारी थे अतः व्यापार-प्रणाली का संक्षिप्त-सा दिग्दर्शन करा देना कोई अनुचित न होगा क्योंकि इस प्रणाली में जैनत्व एवं जैन सांस्कृतिक तत्वों का समावेश था। जैन पर्वों एवं त्यौहारों का ध्यान रखा जाता था तथा जैन आचार-विचार का यथाशक्ति पालन भी किया जाता था। उस समय आज जैसे यातायात के साधन तो सुलभ थे नहीं। न सड़कें थीं न ही वाहन। वाहन के नाम पर बैलगाड़ी या घोड़ागाड़ी ही होते थे जिन्हें बहली या रथ कहा जाता था। ये प्रतिष्ठा के प्रतीक थे और केवल सवारी के लिए ही प्रयुक्त होते थे अन्यथा व्यापारिक वस्तु लादने, लाने व ले जाने के लिए जानवरों के झुण्ड होते थे जिन्हें खांडू कहा जाता था। ये जानवर घोड़े, बैल, खच्चर, गधे, भैंस, पाडे, ऊँट आदि होते थे। व्यापार के लिए एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाना उन दिनों निरापद तो था नहीं; जगह-जगह चोरों, लुटेरों और डाकुओं का भय बना रहता था अतः व्यापारी लोग समूह बनाकर व्यापार के लिए निकला करते थे। जब यही समूह तीर्थयात्रा जैसे धार्मिक कार्यों के लिए जाता था तो इनका नेतृत्व करनेवाला व्यक्ति 'संघाधिप या संघाधिपति' की उपाधि से विभूषित किया जाता था।

जैन व्यापारियों के खांडू प्रायः कार्तिकी अष्टाह्निका के बाद प्रस्थान किया करते थे और मार्ग में विभिन्न स्थानों पर लेन-देन करते हुए फाल्गुनी अष्टाह्निका से पूर्व तक अपने गन्तव्य पर अवश्य ही पहुँच जाते थे जहाँ पूजन-भजन, देवदर्शन, शास्त्र-प्रवचन आदि की समुचित व्यवस्था होती थी। मार्ग में वे रात्रि-विश्राम ऐसे ही स्थानों पर किया करते थे जहां देवदर्शन-पूजन के लिए जिनालय या जिन चैत्यालय होते थे। लगभग चार मास के प्रवास बाद घर वापिसी का प्रस्थान फाल्गुन सुदी पूर्णिमा (अष्टाह्निका) समाप्ति के बाद होता और आषाढ़ी अष्टाह्निका से पूर्व घर पहुँच जाते जिससे वर्षा ऋतु

के कारण रास्ते दलदलमय (कीचड़मय) न हो जावें तथा नदी-नालों में बाढ़ न आ जावे। पर्यूषण, रक्षाबन्धन आदि पर्वों और त्यौहारों का आयोजन घर पर ही करते थे। मार्ग में सुरक्षा हेतु हर खांडू के साथ पहलवानों एवं सिपाहियों का संगठन चलता था। इन खांडुओं के माध्यम से कथा-कहानियों एवं धार्मिक, सामाजिक और सांस्कृतिक रीति-रिवाजों का आदान-प्रदान एवं विकास पर्याप्त मात्रा में हुआ। इनका इतिहास बड़ा रोचक और ज्ञानवर्द्धक है।

इस तरह भक्त शिरोमणि पाड़ासाह ने बुन्देलखण्ड में जैनधर्म और संस्कृति की ध्वजा फहराई। बुन्देलखण्ड के कण-कण में उनकी यशोगाथा बिखरी पड़ी है, यहाँ का हर जैन बड़े आदर और श्रद्धाभाव से उनका पुण्य-स्मरण करता है।

लक्षाधिक जिनबिम्बों के प्रतिष्ठापक

साहू श्री जीवराज पापड़ीवाल

श्री जीवराज पापड़ीवाल मुंडासा नगर के निवासी थे जो तत्कालीन राजस्थान का एक प्रसिद्ध नगर था और उस समय वहाँ राजा श्री स्योसिंह रावल का राज्य था। यह फतेहपुर स्थित भगवान पार्श्वनाथ (बैसाख सुदी ३, संवत् १५४८) की मूर्ति के लेख से ज्ञात होता है।

श्री पापड़ीवाल खण्डेलवाल जैन थे। पापड़ीवाल आपका गोत्र था।

श्री पापड़ीवाल दिगम्बर जैन संस्कृति के प्रबल पोषक एवं संरक्षक थे। जब उन्होंने यवनों द्वारा मूर्तिभंजन का दुरभियान देखा तो उनकी आत्मा तड़फ उठी और उन्होंने मन ही मन प्रतिज्ञा की कि यवन लोग जितनी मूर्तियाँ तोड़ेंगे मैं उतनी ही नवीन प्रतिमाओं का निर्माण कराकर उन्हें जगह-जगह प्रतिष्ठित कराऊँगा। यवनों ने पुरानी कलापूर्ण अनेक मूर्तियों का भंजनकर कला एवं पुरातत्व का अपमान तो किया ही साथ ही भारतीय संस्कृति की बहुमूल्य धरोहर को सदा के लिए नष्ट कर दिया, खण्डित कर दिया। इस पीड़ा से पीड़ित श्री पापड़ीवाल ने लक्षाधिक जिनबिम्बों का निर्माण करवाया और अक्षय तृतीया (वैशाख शुक्ल तृतीया) सं. १५४८ तदनुसार ई. सन् १४४२ में एक विशाल गजरथ प्रतिष्ठा महोत्सव कराया, इस महायज्ञ के होता (यज्ञ करनेवाला) जयपुर शाखा के श्री जिनचन्द्र थे जो दिल्ली पट्ट पर आसीन थे। इसी प्रतिष्ठा समारोह में श्री पापड़ीवाल ने जिन लक्षाधिक जिनबिम्बों का निर्माण कराया था उन्हें प्रतिष्ठित कराया और फिर भिन्न-भिन्न स्थानों पर विराजमान कराया।

इस शुभ कार्य के लिए श्री पापड़ीवाल ने यात्रासंघ का आयोजन किया जिसमें हजारों यात्री सम्मिलित थे। इस यात्रा के लिए सहस्राधिक विशिष्ट वाहनों का तथा पालकियों का निर्माण कराया गया जिनमें सभी जिनबिम्ब विधिवत् रूप से विराजमान कर शिखरजी आदि क्षेत्रों की यात्रा के लिए प्रस्थान किया। जिनबिम्बों की प्रतिष्ठा और आदर को ध्यान में रखते हुए लोग जिनबिम्बों की पालकियों को स्वयं कंधों पर रखकर ले जाते थे। मार्ग में जहाँ विश्राम होता वहीं के मन्दिर में एक मूर्ति विराजमान कर देते। जहाँ मन्दिर या चैत्यालय नहीं होता वहाँ चैत्यालय का निर्माण कराकर मूर्ति विराजमान करा देते। इस तरह श्री पापड़ीवाल तीर्थयात्रा करते हुए जहाँ-जहाँ पहुँचे वहाँ-वहाँ

वैशाख शुक्ला तृतीया (अक्षय-तृतीया) वि. सं. १५४८ की प्रतिष्ठित मूर्तियां विराजमान करते हुए आगे बढ़ते गये।

इस तरह श्री पापड़ीवाल द्वारा प्रतिष्ठित सं. १५४८ की मूर्तियां गुजरात, पंजाब, हरियाणा, बंगाल, उत्तरप्रदेश, महाराष्ट्र, मध्यप्रदेश, बिहार, बुन्देलखण्ड आदि प्रदेशों में प्रचुरता से मिलती हैं। ये मूर्तियां इस बात की प्रतीक हैं कि यवनों द्वारा मूर्तिभंजन की चुनौती को श्री पापड़ीवाल ने मिशन के रूप में संभाला और वे अपने मिशन में पूर्णतया कामयाब भी हुए।

मथुरा में 514 जैन स्तूपों के निर्माता

श्री टोडर साहू

मथुरा नगरी बहुत प्राचीन काल से ही जैन संस्कृति का महान् केन्द्र रही। माथुरान्वय, माथुरगच्छ, माथुर संघ आदि जैन मुनि संस्थाओं के उल्लेख इसी मथुरा नगरी के नाम पर ही प्रचलित हुए थे। मथुरा के कंकाली टीले से उपलब्ध पुरातत्त्व सामग्री से इस नगरी की प्राचीनता ईसा से कई सौ वर्ष पहले की अनुमानित की जाती है। यहाँ इस कंकाली टीले के उत्खनन के पश्चात् उपलब्ध कलापूर्ण आयागपट्ट, सर्वतोभद्र प्रतिमाएँ, स्तूप, पुरातात्विक लेख एवं अन्य सामग्री की प्राचीनता ईसा से दो-तीन सदी पूर्व की प्रमाणित हो चुकी है। यहाँ से प्राप्त देवनिर्मित स्तूप के ध्वंसावशेष तो अपनी प्राचीनता की कहानी और भी अधिक पहले तक की सुनाते हैं। यहाँ जैन और बौद्ध स्तूपों का निर्माण प्रचुरता से हुआ करता था। हम इस लेख में सन् १५७३ ई. में मुगल सम्राट अकबर के शासनकाल में निर्मित जैन स्तूपों की चर्चा करेंगे।

मथुरा में स्तूप-निर्माण की शृंखला में अब से लगभग चार सौ वर्ष पूर्व संवत् १६३० (१५७३ ई.) में अलीगढ़ के साहू टोडर ने ५१४ जैन स्तूपों का निर्माण कराया था और बारह द्वारपाल स्थापित कराये थे पर खेद है कि आज उनका कोई अवशेष या चिह्न-मात्र भी उपलब्ध नहीं है। इतने थोड़े समय में इतनी विशाल ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक सम्पदा का विलुप्त हो जाना निश्चय ही भारतीय इतिहास और पुरातत्व के विनाश की एक दुर्भाग्यपूर्ण घटना है, लगता है धर्मांधता ही इस विनाश-लीला का कारण रही हो, अस्तु। हुआ यह कि एक बार श्री टोडर साहू सिद्धक्षेत्र की वंदना हेतु अलीगढ़ से मथुरा आये तो वहाँ उन्होंने अन्तिम केवली श्री जम्बूस्वामी तथा विद्युच्चर मुनि (जो पहले चोर था और जम्बूस्वामी के राजमहल में चोरी के उद्देश्य से घुसा था पर उनकी वैराग्यमयी स्थिति से प्रभावित हो स्वयं उन्हीं के साथ मुनि बन गया था।) की नसियांजी जीर्ण-शीर्ण दशा में देखी। साथ ही वहाँ कहीं पाँच, कहीं आठ, कहीं दस और कहीं बीस समूह में जीर्ण-शीर्ण खण्डहरों के रूप में जैन स्तूपों को देखा, इससे श्री टोडर साहू का मन बड़ा खेद-खिन्न हुआ और वहाँ उन्होंने नवीन स्तूपों के निर्माण कराने की योजना बनाई, फलस्वरूप ५०१ जिनस्तूपों का एक परिसर तथा तेरह जिनस्तूपों का द्वितीय परिसर उन्होंने बनवाया साथ ही बारह द्वारपालों की भी रचना कराई। ५०१ की संख्या से अनुमानित किया जाता है कि विद्युच्चर अपने ५०० साथियोंसहित

जम्बूस्वामी के साथ दीक्षित हुए थे अतः उसी उपलक्ष में ५०१ स्तूप बनवाये गये हों। इतने विशाल स्तूप-परिसर की निर्मिति के पश्चात् ज्येष्ठ शुक्ला द्वादशी बुधवार सं. १६३० को चतुर्विध संघ को आमंत्रितकर विशाल स्तर पर इन स्तूपों की प्रतिष्ठा कराई, फलस्वरूप गुरुजनों ने आशीर्वचन की दृष्टि के साथ-साथ टोडर साहू के मस्तक पर पुष्प-वर्षा की। इसका उल्लेख पं. राजमल्लजी आगरावाले की कृति 'जम्बूस्वामीचरित्र' के प्रथम सर्ग में उपलब्ध है, इस ग्रंथ की रचना उन्होंने इन्हीं टोडरसाहू के आग्रह एवं अनुरोध पर की थी।

वर्तमान में चौरासी-मथुरा में जो विशाल जिन-मन्दिर विद्यमान है उसी को अन्तिम केवली श्री जम्बूस्वामी की निर्वाण-स्थली माना जाता है, कुछ लोग तो इसे केवल अतिशय क्षेत्र ही मानते हैं क्योंकि निर्वाणकाण्ड के प्राचीन पाठों में चौरासी-मथुरा का कोई उल्लेख नहीं है पर यह सुनिश्चित है कि टोडरसाहू के समय में यह स्थान निर्वाण क्षेत्र के नाम से विख्यात था। यहां पर बहुत-सी नसियां, स्तूप तथा जिनालय थे तथा विभिन्न प्रकार की सांस्कृतिक सामग्री यहाँ विद्यमान थी पर कराल-काल के प्रभाव से वह सब विनष्ट हो गई। वर्तमान में जो विशाल जिनालय वहाँ विराजमान है वह लगभग दो सौ वर्ष प्राचीन है, उसमें भगवान अजितनाथ का मूलनायक जिनबिम्ब विराजमान है जो पद्मासन मुद्रा में श्याम वर्ण संगमरमर पाषाण का है, साथ ही पाँच बाल यतीश्वरों के चरणचिह्न भी विद्यमान हैं। इस विशाल जैन-मन्दिर का निर्माण मथुरा के नगरसेठ राजा लक्ष्मणदास ने करवाया था। वे जैन-वैष्णव संस्कृति समन्वय के प्रबल पोषक थे, उन्होंने शहर में द्वारकाधीश के मन्दिर का भी निर्माण कराया था। राजा साहब बड़े उदारमना श्रेष्ठी थे।

टोडर साहू द्वारा निर्मित स्तूप परिसर भूतेश्वर स्टेशन के पास स्थित कंकाली टीले से लेकर नहर के किनारे-किनारे के आस-पास के क्षेत्र को घेरता हुआ चौरासी मन्दिर तक के विस्तृत क्षेत्रफल में यत्र-तत्र विद्यमान होने का अनुमान किया जाता है पर इतना विशाल स्तूप-परिसर इतने थोड़े काल में सर्वथा नष्ट हो गया जिसका किसी को पता भी नहीं है, अस्तु। अब यहाँ इस विशाल स्तूप-परिसर के निर्माता श्री टोडर साहू के बारे में थोड़ी-सी जानकारी प्रस्तुत कर दें तो कोई अनुचित न होगा।

श्री टोडर साहू अलीगढ़ (भटानिया कोल) के निवासी थे। इनके पिता का नाम श्री पासा, माताजी का नाम श्रीमती घोषा था। इनकी पत्नी का नाम कसूंभी था। इनके तीन पुत्र थे - ऋषभदास, मोहनदास तथा रूपमांगद। टोडर साहू के पिता श्री पासा के श्री जसरथ और श्री रायमल्ल नाम के दो बड़े भाई थे, इनके पिता श्रीमान् रूपचन्द्र व माता श्रीमती जिनमती थे। ये गर्ग गोत्रिय, अग्रवालवंशी थे। श्री टोडर साहू तत्कालीन

विख्यात मुगल सम्राट साहजलालुद्दीन अकबर के दरबार में विशिष्ट कृपापात्र व्यक्तियों में से एक थे। अकबर-शासन के प्रसिद्ध अधिकारी श्री अंरजानी पुत्र ठाकुर कृष्णमंगल चौधरी एवं श्री गढमल्ल साहू की कृपा से श्री टोडर साहू ने अकबर साम्राज्य की टकसाल के काम में विशेष दक्षता एवं निपुणता प्राप्त की थी। ये काष्ठासंघी, माथुरगच्छीय, पुष्करगणीय श्री कुमारसेन की आम्नाय के थे।

कवि श्री राजमल्ल

कवि राजमल्लजी ने अपने जीवन-परिचय के संबंध में कहीं भी कुछ उल्लेख नहीं किया है केवल अपने 'लाटी-संहिता' नामक ग्रंथ में स्वयं को हेमचन्द्राम्नायी लिखा है, यथा -

श्रेयोऽर्थ कामनीये प्रमुदितमनसा दानमानासनाद्यैः।
स्वोपज्ञा राजमल्लेन विदितविदुषाम्नायिना हेमचन्द्रे॥

इस श्लोक से स्पष्ट ज्ञात होता है कि हेमचन्द्राम्नायी राजमल्ल ने विराट नगर के संघपति श्री फामन के अनुरोध पर लाटी-संहिता नामक ग्रंथ की रचना की थी। कवि राजमल्लजी आगरे के निवासी थे और इस समय आगरे में राजमल्ल या रायमल्ल नाम के कई विद्वानों का उल्लेख मिलता है। एक राजमल्ल तो वे हैं जो पांडे राजमल्लजी के नाम से प्रसिद्ध थे जिनका कविवर बनारसीदासजी ने अपने 'समयसार नाटक' ग्रंथ में उल्लेख किया है, जिन्होंने समयसार की बालबोध टीका हिन्दी गद्य में रची थी, जिसका अध्ययनकर कविवर बनारसीदास ने पद्यात्मक 'समयसार नाटक' की रचना की थी। दूसरे राजमल्ल वे हैं जिन्होंने संवत् १६६७ विक्रमी (तदनुसार सन् १६१० ई.) में भक्तामर स्तोत्र की संस्कृत टीका रची थी। ये हूंबड़ जैन जाति के थे तथा स्वयं को ब्रह्मचारी लिखा करते थे। तीसरे राजमल्ल हमारे लेख के नायक कवि श्री राजमल्ल हैं। ये संस्कृत के प्रकाण्ड पंडित थे तथा जैनागम के मर्मज्ञ विद्वान् थे। आपने कुन्दकुन्द, अमृतचन्द्रसूरि, समन्तभद्र, नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती आदि विभिन्न मनीषी आचार्यों एवं विद्वानों के ग्रंथों का अध्ययन किया और फिर इनके आधार पर अपने ग्रंथ की रचना की। आप संस्कृत काव्य-रचना में पूर्णतया निष्णात और पारंगत थे। आप प्रतिभाशाली प्रखर-पंडित कहलाते थे और 'स्याद्वादानवद्य गद्य-पद्य विद्या विशारद' की उपाधि से विभूषित थे। आपके द्वारा रचित पाँच रचनाएँ उपलब्ध होती हैं - (१) 'जम्बूस्वामिचरित्र', यह टोडर साहू के अनुरोध एवं प्रार्थना पर रचा गया था। इसमें अन्तिम केवली जम्बूस्वामी का वर्णन है तथा मथुरा में ५१४ जिनस्तूपों के निर्माण का भी ऐतिहासिक उल्लेख है। (२) दूसरी रचना 'लाटी-संहिता' है जो विराटनगर के सिंघई फामन की प्रार्थना पर रची गई थी, इसमें श्रावकाचार संबंधी विवरण विस्तार से लिखा गया है। यह विवरण लाट (गुजरात) देश में प्रचलित श्रावकाचार से संबंधित है अतः इसका लाटी-संहिता नाम रखा गया। (३) तीसरी 'अध्यात्म कमल मार्तण्ड'

नामक छोटी-सी रचना है, इसमें मोक्षमार्ग का लक्षण, द्रव्य तथा सप्त तत्वों का विवेचन चार अध्यायों के १०१ श्लोकों में वर्णित है। (४) चौथी रचना 'पंचाध्यायी' है जो अपूर्ण है, यदि यह पूर्ण हो जाती तो द्रव्यानुयोग की श्रेष्ठतम कृति सिद्ध होती। स्व. पं. देवकीनन्दनजी ने इसकी टीका लिखी थी और (५) पाँचवीं रचना पिंगल शास्त्र से संबंधित 'छंदोविद्या' है। इस तरह कवि राजमल्लजी अपने समय के विख्यात ओजस्वी कवि के साथ-साथ प्रखर तत्व-विचारक और मीमांसक भी थे तथा स्याद्वाद की व्याख्या में निष्णात थे।

कवि राजमल्लजी का जीवन-काल संवत् १६१० से १६८० तक अनुमानित किया जाता है। कविश्री की सर्वप्रथम रचना 'जम्बूस्वामीचरित्र' है जो संवत् १६३२ में रची गई थी। अतः इस रचना के निर्माण तक कवि की आयु २२-२५ वर्ष की तो होनी ही चाहिए, इससे कवि का जन्म संवत् १६१० अनुमानित किया जाता है। लाटी संहिता की समाप्ति संवत् १६४१ में हुई तथा इसके बाद बाकी की तीन कृतियों का भी निर्माण हुआ अतः इन सबमें लगभग ३०-४० वर्ष का समय और लगा होगा अतः अन्त समय संवत् १६८० भी युक्तियुक्त ही लगता है और इस तरह कवि की कुल आयु ७० वर्ष अनुमानित की जाय तो कोई संदेह नहीं है।

कवि राजमल्ल जहाँ अध्यात्म शास्त्र के प्रकाण्ड पंडित थे वहाँ छन्द, व्याकरण और साहित्य के भी कला-मर्मज्ञ थे। जहाँ उन्होंने आचार-शास्त्र का गहन-गम्भीर अध्ययन किया था वहाँ द्रव्यानुयोग की निपुणता में भी पीछे नहीं थे। उन्होंने स्वयं को हेमचन्द्रान्वयी लिखा है। इससे ज्ञात होता है कि वे न तो कोई मुनि, यति या साधु थे और ना ही कोई ब्रह्मचारी या क्षुल्लक वगैरह थे अपितु वे सामान्य गृहस्थ श्रावक थे और गृहस्थाचार्य की योग्यता का पूर्णरूपेण निर्वहन करते थे। जिन हेमचन्द्र के ये शिष्य थे वे हेमचन्द्र भगवान कुमारसेन के पट्ट शिष्य हेमसेन या हेमचन्द्र ही हैं।

कविश्री का 'जम्बूस्वामीचरित्र' संस्कृत साहित्य का उच्चकोटि का काव्य ग्रन्थ है, इसमें तेरह सर्गों में लगभग २४०० छन्दों की रचना की गई है जिनमें अन्तिम केवली श्री जम्बूस्वामी के जीवन-चरित्र का बड़े कलात्मक ढंग से वर्णन किया गया है। पहला सर्ग तो पूर्णतया इतिवृत्तात्मक है जिसमें आगरा नगर का तथा वहाँ के शासक मुगल सम्राट साहजलालुद्दीन अकबर का तथा अलीगढ़ (भटानिया कोल) निवासी टोडर साहू का ऐतिहासिक परिचय बड़े आलंकारिक ढंग से प्रस्तुत किया गया है। अन्य सर्गों में जम्बूस्वामी की कथा निबद्ध है। दूसरे सर्ग में महाराज श्रेणिक का भगवान महावीर के समवशरण में जाने का ३४३ छंदों में रोचक वर्णन है। तीसरे सर्ग में भावदेव, भवदेव का तथा सानत्कुमार के स्वर्गारोहण का वर्णन है। इसमें २४१ छंद हैं। चौथे सर्ग में

भावदेव और भवदेव का ब्रह्मोत्तर स्वर्ग में जाने का वर्णन १७२ छन्दों में है। पाँचवें सर्ग में जम्बूस्वामी का जन्म तथा शैशव-वर्णन १६० छंदों में है। छठे सर्ग में जम्बूस्वामी की बसंत-क्रीड़ा तथा हाथी को वश में करने का वर्णन ९६ छंदों में है। सातवें सर्ग में जम्बूस्वामी का विजय-वर्णन २५७ छंदों में है। आठवें सर्ग में जम्बूस्वामी और श्रेणिक महाराज का राजगृही नगरी में प्रवेश का वर्णन १४५ छंदों में है। नवमें सर्ग में जम्बूस्वामी के विवाहोत्सव का वर्णन ११८ छंदों में है। दशम सर्ग में जम्बूस्वामी की चार पत्नियों तथा विद्युच्चर चोर के आगमन का वर्णन २३१ छंदों में है और ग्याहरवें सर्ग में विद्युच्चर द्वारा जम्बूस्वामी को चार कथाएं सुनाने का वर्णन १५९ छंदों में है। बारहवें सर्ग में जम्बूस्वामी की निर्वाण-प्राप्ति का वर्णन १५० छंदों में है। तेरहवें सर्ग में जम्बूस्वामी और विद्युच्चर का सर्वार्थसिद्धि गमन वर्णन १७७ छंदों में है।

जम्बूस्वामी चरित्र के प्रत्येक सर्ग का प्रथम श्लोक कवि का टोडर साहू के प्रति आशीर्वचनात्मक है तथा दूसरे श्लोक में क्रमशः दो-दो तीर्थंकरों की स्तुति की गई है। इस तरह बारह सर्गों में चौबीस तीर्थंकरों की स्तुति पूर्ण हो जाती है और १२-१३ छंदों में टोडर साहू के लिए आशीर्वचनों की श्रृंखला बन जाती है।

कवि श्री देवीदास भायजी

जहाँ हिन्दी साहित्य के रीतिकालीन युग (सं. १७००-१९००) में बिहारी, देव, मतिराम आदि जैसे रसिक कवि नायिका-वर्णन के साथ-साथ शृंगार रस की मादक रसधारा बहाकर स्वपरजन के मनों को रागरंजित कर रहे थे, वहाँ उसी युग में दौलतराम, भागचन्द्र, बुधजन, बख्तावरसिंह, रामचन्द्र, वृन्दावन, देवीदास, भगवतीदास, द्यानतराय जैसे अनेक अध्यात्मप्रेमी जैन कवि अपने अध्यात्म रस में विभोर हो वैराग्य की दिव्य दुन्दुभि बजा रहे थे और परमार्थ के परमपद पर लोगों को अग्रसर कर रहे थे। पर खेद है कि शृंगार-रस के उस नक्कारखाने में वैराग्य और अध्यात्म की तूती किसी को भी सुनाई न पड़ी और इसीलिए हिन्दी इतिहासकारों की दृष्टि से ऐसे सुयोग्य प्रतिभाशाली कवि ओझल हो गये। आशा है आनेवाली निष्पक्ष इतिहासकारों की पीढ़ी इस कलंक को धो-पोंछकर हिन्दी साहित्य के इतिहास के पृष्ठों को उज्ज्वल और देदीप्यमान बनावेगी।

हम रीतिकाल के एक ऐसे ही समृद्ध कवि का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत कर रहे हैं जो वीर रस के सबल गायक भूषण कवि की भांति अपने युग की धारा से सर्वथा पृथक् रहकर अपने पूर्ववर्ती भक्त कवियों की सशक्त भक्तिरस-प्रधान-परम्परा को अक्षुण्ण बनाये रहे, वे हैं दिगौड़ा (बुन्देलखण्ड) के समृद्ध कवि देवीदास भायजी। उनका समय १८वीं सदी का अन्तिम दूसरा-तीसरा दशक माना जाता है। जबकि उनके पड़ौसी ग्राम जैतपुर में रीति-काव्य के प्रसिद्ध कवि मंडन भी रह रहे थे जो सं. १७१६ में राजा मंगलसिंह के दरबारी कवि थे।

देवीदासजी जैन शास्त्रों के सुविज्ञ मर्मज्ञ थे। उनकी छोटी-मोटी लगभग २५ रचनाएँ उपलब्ध होती हैं। कवि देवीदासजी ने अपना संक्षिप्त जीवन-परिचय अपनी रचनाओं के अन्त में दिया है।

अपना वंश-परिचय देते हुए वे लिखते हैं -

गोलालारे जानियो वंश खरौवा होत,
सोनवियारस बैंक तसु पुनि कासिल्ल सुगोत।
पुनिकासिल्ल सुगोत सीकसिकहाए खेरौ,
देश भदावर माँहि जो सुवरनो तिह केरौ।

कैलगवाँ के वसनहार सन्तोष सुभारे,
कविदेवी तसुपुत्र दिगौड़े गोलालारे।

अपने काव्यों में उन्होंने समकालीन कवियों और विद्वानों का उल्लेख किया है।

परिचय पद्यों से ज्ञात होता है कि कवि देवीदास ओरछा के राजा सावंतसिंह के समय में विद्यमान थे जो राजा पृथ्वीसिंह के पुत्र थे। उन दिनों ओरछा राज्य बड़ा सम्पन्न, समृद्ध एवं विशाल था जिसकी राजधानी पहले ओरछा रही बाद में टीकमगढ़ हो गई। ओरछा आज भी झांसी मानिकपुर सेक्सन पर पहला स्टेशन है, ओरछा राज्य की स्थापना गढ़ कुढ़ार के राजा मलखानसिंह के ज्येष्ठ पुत्र रुद्रप्रताप ने सं. १५०१ में की थी। सावंतसिंह ओरछा की गद्दी पर सं. १८०९ से १८२२ तक १३ वर्ष राज करता रहा। १८२२ में उसकी मृत्यु हो गई।

कवि देवीदास खरौवा गोलालारे जैन थे, उनका सोनवियारास बैंक और कासिल्ल गोत्र था। वे मूलत: भदावर (भिण्ड-मुरैना के आसपास का प्रदेश) देश में स्थित सीकसिकहाए नामक ग्राम के निवासी थे, जहाँ उनके पिता श्री संतोषजी आकर रहने लगे थे जो संभवत: कभी कैलगवां नामक ग्राम में रहा करते होंगे। कुछ दिनों बाद किसी कारणवश कवि देवीदास अपना ग्राम छोड़कर दिगौड़ा आकर बस गये जो उस समय बड़ा समृद्ध और सम्पन्न नगर था, आज तो यह टीकमगढ़ जिले की एक साधारण-सी तहसील मात्र ही रह गयी है

देवीदासजी ने 'चतुर्विंशति जिन पूजा', की रचना सावन सुदी १ रविवार सं. १८२१ में इन छ: सहधर्मी विद्वानों के आग्रह पर की - छगनलाल (शिवपुरी), लल्ले (ललितपुर), कमल (कारी, टीकमगढ़), मरजाद (टिहरी, टीकमगढ़), गंगाराम (विलगांय, टीकमगढ़) और गोपालदास (दिगौड़ा, टीकमगढ़)।

कवि देवीदास ने 'बुद्धि बावनी' की रचना चैत सुदी १ सं. १८१२ गुरुवार को की थी। इसके लिए उन्हें गंगाराम, गोपालदास और कमलापति आदि विद्वानों से सूझ-बूझ व शिक्षा मिलती रहती थी जो दिगौड़े के ही रहनेवाले थे पर कारणवश कैलगवां चले गये। कैलगवां दिगौड़े के पास ही ७-८ मील दूर छोटा-सा गाँव है।

कवि देवीदास की मुख्यत: तीन रचनाएँ उपलब्ध हैं - (१) चतुर्विंशति जिनपूजा, (२) आचार्य कुन्दकुन्द के प्रवचनसार का हिन्दी पद्यानुवाद तथा (३) परमानन्द विलास (देवीविलास)। परमानन्द विलास में निम्न रचनाएँ संग्रहीत हैं - १. परमानन्द स्तोत्र, २. जीव की चतुर्भेदादि बत्तीसी, ३. जिनांतराव, ४. धर्म पच्चीसी, ५. पंचपद पच्चीसी, ६. सम्यक् बोधक, ७. पुकार पच्चीसी, ८. वीतराग पच्चीसी, ९. दर्शन

पच्चीसी, १०. बुद्धिबावनी, ११. तीन मूढ़ता आरती, १२. शीलांग चतुर्दशी, १३. सप्तव्यसन कवित्त, १४. विवेक बत्तीसी, १५. स्व जोग राछरो, १६. मालोच भवांत रावली, १७. पंचवर्ण कवित्त, १८. भोग पच्चीसी, १९. जोग पच्चीसी, २०. द्वादशानुप्रेक्षा, २१. उपदेश पच्चीसी, २२. जिन स्तुति, २३. ओपदेशिक, २४. हितोपदेशी जकड़ी आदि।

कवि देवीदास की प्रतिभा का निखार 'विवेक बत्तीसी' और 'भोग पच्चीसी' नामक रचनाओं में चरम श्रेणी पर दिखाई देता है जिनमें उन्होंने पर्वतबंध, सर्पबंध, कपाटबंध आदि चित्र-काव्य की रचना की है।

ये अपने समय के बड़े प्रतिभाशाली एवं बहुश्रुत कवि थे। इन्होंने अपने समय की बत्तीसी, पच्चीसी, बहोत्तरी, सतसई आदि रचना-पद्धतियों को पूर्णरूपेण अपनाया था। इनकी भाषा बड़ी पुष्ट एवं परिमार्जित है। इनके दोहे अति सशक्त एवं प्रभावशाली हैं।

इनकी रचनाओं में बुन्देलखण्डी भाषा के शब्दों की भरमार होना तो स्वाभाविक ही है। ये संस्कृत और प्राकृत के भी प्रकांड पंडित थे, तभी तो ये कुन्दकुन्द के प्रवचनसार जैसे गूढ़ ग्रंथ का सफल हिन्दी पद्यानुवाद कर सके।[१] ऐसे प्रतिभाशाली कवि को हिन्दी साहित्य के इतिहास में उचित स्थान न प्राप्त होना निश्चय ही उनके साथ बड़ा भारी अन्याय एवं पक्षपात है।

कवि देवीदासजी धर्म एवं काव्यशास्त्र के मर्मज्ञ होने के साथ-साथ शुद्ध सरल परिणामी एवं उच्चकोटि के चरित्रनिष्ठ श्रावक थे, ये व्रतादिक का पालन करते हुए पवित्र एवं सात्विक जीवन बिताते थे। अत: लोग इन्हें 'भायजी' नामक आदर एवं श्रद्धासूचक शब्द से संबोधित किया करते थे। बुन्देलखण्ड में 'भायजी' शब्द का प्रयोग प्राय: सरल, चरित्रनिष्ठ एवं ज्ञानी-व्रती नैष्ठिक श्रावक के लिए ही किया जाता है। कवि देवीदास के श्रेष्ठ एवं पवित्र जीवन के संबंध में अनेक किंवदन्तियाँ एवं जनश्रुतियाँ प्रचलित हैं।

देवीदासजी को जैनधर्म में अगाध श्रद्धा एवं अटूट भक्ति थी। एक घटना प्रस्तुत है, जिससे उनकी अटूट श्रद्धा और दृढ़ता का परिचय मिलता है - एक बार आप ललितपुर से कपड़ा खरीदकर घोड़े पर लादकर घर जा रहे थे। मार्ग में घना जंगल था। सायंकालीन सामायिक का समय हो गया, वे उसी जंगल में सामायिक के लिए बैठने लगे, साथियों ने कहा कि यहाँ चोर-लुटेरों का डर है अत: आगे चलकर निरापद

---

१. विस्तार के लिए द्रष्टव्य है - 'शोधादर्श' (लखनऊ), पृ. ४७, अंक २०, जुलाई १९९३।

स्थान पर सामायिक करना चाहिए पर भायजी दृढ़ श्रद्धानी थे, वे विश्वासपूर्वक बोले - आप लोग चलिए हम तो सामायिक करके ही यहाँ से चलेंगे। भायजी ने घोड़े पर से कपड़ा उतारकर उसे बांध दिया और स्वयं सामायिक में लीन हो गये। इतने में चोर आये और कपड़े का गट्ठर उठाकर ले गये। थोड़ी दूर जाकर चोरों ने सोचा कि जिसका कपड़ा हमने उठाया है उसने तो कुछ भी प्रतिकार नहीं किया, लगता है कोई भलामानस/सज्जन पुरुष है, ऐसे पुरुष को लूटना तो महापाप है अतः उसका कपड़ा लौटा दो, ऐसा विचार करके वे लोग भायजी का कपड़े का गट्ठर उनके पास वापिस रख गये और अपना एक आदमी भी वहाँ छोड़ गये जिससे दूसरा कोई अन्य चोर उन्हें तंग न करे। वे चोर आगे बढ़े और उन लोगों को लूट लिया तथा खूब मारा-पीटा जो भायजी का साथ छोड़कर आगे चले गये थे।

कवि देवीदासजी के आध्यात्मिक पद बड़े ही भक्तिपूर्ण और सरस हैं और बुन्देलखण्ड में आज भी बहुत प्रसिद्ध हैं। वहाँ के जैन-मन्दिरों में शास्त्र-सभा के बाद इनके पद बड़े भक्तिभाव से गाये जाते रहे हैं और आजकल भी गाए जाते हैं।